विषय-सूची

चंद बरद

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जिस मह॥ नाम आरम्भ में ही बड़े आदर के साथ लिया जाता था उसका नाम॥ यद्यपि महाकवि चन्द बरदाई के नाम से चल रहा है तथापि यह ॥ रूप से निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः चन्द बरदाई ना कोई महाकवि हुआ भी है। महाकवि का होना तो दूर रहा उसके होने ॥ सन्देह है। उसके अस्तित्व के मिटाने का जो श्रम महामहोपाध्याय प॥गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी ने किया है वह स्तुत्य किन्तु साथ ही ॥भी है। इतिहास की दृष्टि से पृथ्वीराज-रासो की त्रुटियाँ अथवा भ्रमजाल॥व्यक्त कर उन्होंने सचमुच बहुत ही स्वच्छ कार्य किया है किन्तु उसी झोंक॥ब उन्होंने चन्द बरदाई की सत्ता को भी मिटा दिया है तब उनकी शोध-प्र॥ और तर्कबुद्धि पर कुछ आश्चर्य होता है। कारण यह है कि जयानक 'पृथ्वीराज-विजय' के आधार पर उन्होंने पृथ्वीराज-रासो की भाँति चन्द ॥ई को भी जाली वा कल्पित वा कोई अन्य चन्द ठहराने का कष्ट किया है॥ से यह स्पष्ट होता है कि सचमुच कोई चन्द्र वा चन्द्रराज नाम का कवि ॥जो सुवृत्त के संग्रह में बहुत ही पटु था। जयानक का कहना है—

> तनयश्चन्द्रराजोस्य चन्द्रराज॥वाभवत्।
> संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृतानां च व्यधात्॥ (पृथ्वीराज विजय, ५:१४)

इसके चन्द्रराज को [ओझा] जी ने चन्द्रक कवि का पर्याय माना है और कहा है कि यह वही चन्[द्र]कता है जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने किया है। उन्[होंने यह] भी कहा है जयानक ने पृथ्वीराज के प्रधान भट्ट को पृथ्वीभट्ट कहा है [जिससे व्य]क्त होता है कि कोई चन्द बरदाई पृथ्वीराज का प्रधान भट्ट नहीं था, [य]दि विचार से देखा जाय तो जयानक के 'चन्द्रराज' को क्षेमेन्द्र का [चन्द्रक] मानने का कोई दृढ आधार नहीं है। यदि अनुमान और कल्पना को [ही आधार] ठहराना है तो क्यों नहीं यह माना जाय कि चन्द्रराज पृथ्वीराज का [प्रधान] भट्ट पृथ्वीभट्ट ही है। स्वयं पृथ्वीभट्ट शब्द ऐसा है जो इस तथ्य [की ओर] संकेत करता है कि यह जिसकी उपाधि है वह पृथ्वीराज का प्रमुख भट्ट [है]। रही चन्द बरदाई की बात, सो उसमें भी चन्द्रराज का 'चन्द्र' तो है ही। [बरदाई] शब्द विचारणीय अवश्य है। हमारी दृष्टि में इसका अर्थ है 'बलदाता' [जिसका अ]र्थ है कि यह वह चन्द है जो पृथ्वीराज को बल देता है। पृथ्वीराज-रा[सो में] जो चन्द बरदाई और पृथ्वीराज के जन्म, मरण और जीवन को एक [कर] दिया गया है उसका रहस्य भी यही है। अस्तु, हमें तो यह ठीक दिखाई [देता है] कि वास्तव में चन्द बरदाई का नाम चन्द वा चन्दराज ही था, और वह पृ[थ्वीरा]ज का वैसा ही अभिन्न चारण था जैसा पृथ्वीराज-रासो में दिखाया गया [है]। और यदि यह ठीक है तो यह कहने में कोई भी दोष नहीं कि बरदाई [उस]की उपाधि है और पृथ्वीभट्ट उसका विशेषण है। पृथ्वीराज और पृथ्[वीभ]ट्ट में वस्तुतः यही भेद है कि एक राजा और दूसरा भाट है। श्री ओझा जी [ने] जिस चन्द्रक को इस चन्द्रराज का पर्याय माना है उसीका उल्लेख क्षेमेन्द्र ने किया है इसका कोई दृढ प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है और न उसकी कोई र[चना] ही हमारे सामने रक्खी गई है। ऐसे चन्द्रक के विषय में जयानक का इस [प्रका]र श्लेष के द्वारा उल्लेख कर जाना कुछ बहुत नपी-तुली बात तो नहीं ठहरती। [अनु]सुवृत्तों के सग्रह के समाधान के लिए भी तो कोई वृत्त हाथ लगना चाहिये। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि पृथ्वीराज का सम-सामयिक ही नहीं [व]रन सखा के रूप में प्रतिष्ठित परम्परा

से ख्यात चन्द बरदाई तो सुवृत्तों का संग्रह-कर्ता न बने और कोई चन्द्रक न जाने किस सुवृत्त का संग्रहकर्ता हो जाय ? अस्तु, हमें तो इसमें कोई सार नहीं दिखाई देता कि जयानक के आधार पर किंवा पृथ्वीराज-विजय के प्रमाण पर चन्द बरदाई की सत्ता को ही निर्मूल कर दिया जाय और पृथ्वीराज-रासो में बार-बार आए हुए चन्द को किसी और चन्द्र का द्योतक समझा जाय। यह तो तभी सम्भव हो सकता है जब यह सिद्ध कर दिया जाय कि वस्तुतः पृथ्वीराज-रासो की रचना एक ही व्यक्ति ने की है, और उसकी भाषा, शैली तथा रंग-ढंग सब एक ही रूप में हमारे सामने आते हैं। स्मरण रहे, आज कोई भी विद्वान इसको नहीं मानता। इतिहासविदो, साहित्य के पण्डितों और भाषा-शास्त्रियों ने भी इस ग्रन्थ को जाल किंवा कोप के रूप में ही देखा है। अस्तु, हमें यह कहना पड़ता है कि सचमुच चन्द महाराज पृथ्वीराज का प्रमुख भट्ट था और उसने 'पृथ्वीराज-रासो' की रचना भी की थी, किन्तु किस पृथ्वीराज रासो की यह विचारणीय है।

'पृथ्वीराज-रासो' में संवत्-सम्बन्धी, घटना-सम्बन्धी, शब्द-सम्बन्धी आदि जो भूलें हुई हैं, उनकी संख्या इतनी प्रचुर है कि उसको देखकर किसी के जी में यह नहीं होता कि 'पृथ्वीराज-रासो' को सच्चा ग्रन्थ मान लिया जाय। यह सच है कि 'पृथ्वीराज-रासो' को चन्दकृत ठहराने का बहुत ही घोर श्रम हुआ। यहाँ तक कि पृथ्वीराज के समय के कुछ बनावटी पट्टे भी निकल आये। किन्तु इसका परिणाम उलटा हुआ; दोनों एक ही चट्टे-बट्टे के जीव निकल आए और श्री ओझाजी के शब्दों में सिखाये हुए गवाह ने और भी बात बिगाड़ दी। और यह भी सच है कि श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने जो श्री 'टाड' के संकेत पर 'भटायत सवत्' की उद्भावना की थी और सोचा था कि 'पृथ्वीराज-रासो' के संवत् में १०० जोड़ देने से काम सध जायगा ? वह निष्फल गया और उनकी यह उक्ति भी व्यर्थ गई कि पृथ्वराज-रासो में जो पृथ्वीराज के जन्म का दोहा है उसमें 'अनन्द' का अर्थ है 'नन्द रहित'। इस 'अनन्द' में उन्हें जो नन्द मिला तो उन्होंने इसे नव का द्योतक मान लिया और बड़ी तत्परता से

कहा कि सौ में से ९ निकाल देने पर जो इक्यानबे (९१) शेष रह जाता है उसे पृथ्वीराज-रासो के संवत् में जोड़ देने से उसके संवत् ठीक निकल आते हैं। उनका आधारभूत दोहा यह है:—

"एकादश से पंचदश, विक्रम साक अनंद,
तिहिरूप जयपुर हरन को भय पृथिवीराज नरिंद।"

पहले तो इस दोहे का उपयोग उन्होंने भटायत संवत् के १०० के लिये किया था और फिर इसी को आनन्द संवत् के ९१ के लिये किया। जिससे उनके प्रति लोगों की अश्रद्धा हो गई। यद्यपि मिश्र-बन्धुओं ने इस हेतु का बहुत सत्कार किया तथापि इसका परिणाम कुछ अच्छा न निकला और बीसों उदाहरणों के द्वारा श्री ओझा जी ने सिद्ध कर दिया कि यह भी संभव नहीं। यदि संवत् ही की बाधा होती तो कोई बात नहीं। इस छिद्र में तो बहुत से अनर्थ हैं। स्वयं महाराज पृथ्वीराज की माता बहिन, स्त्री आदि के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं वे भी खरी नहीं उतरतीं। यहाँ तक कि उनका नाम कुल और सम्बन्ध भी ठीक नही बैठता। यह एक ऐसी भूल है जिसका समाघात किसी प्रकार नही हो सकता। चौहान वंश की जो उत्पत्ति रासो में मानी गई है और उसकी जो वशावली रासोमे दी गई है वह न तो 'पृथ्वीराज-विजय' की वंशावली से मेल खाती है और न विजोलियाँ के लेख से अस्तु किसी भी ठोस इतिहास के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि रासो की वशावली ठीक है। रासो चौहानों को अग्निवशी मानता है किन्तु वे इतिहास में माने गये हैं सूर्यवंशी। यदि किसी प्रकार तर्क-वितर्क के द्वारा सूर्य और अग्नि के भेद को मिटाया भी जाय तो इसके लिए क्या किया जायगा कि रासो में पृथ्वीराज के पूर्वजों और परिवार का वृत्त भी ठीक नहीं है। इतिहास की भूलें भी सामान्य नही है। मेवात में मुगलों और वीदर में मुसलमानों का शासन पृथ्वीराज के समय में या उनसे और भी पहले कैसे सिद्ध किया जायगा और कैसे यह बताया जायगा कि रासो में जो 'मीर आतिश' 'खान' जैसे शब्दों का इतना प्रयोग हुआ है वह पृथ्वीराज के समय में भी था। रासो में जो अरबी, फारसी और

तुर्की शब्दों की बहुलता है उसका सामाधान तो आप इस प्रकार कर सकते हैं कि चन्द का जन्म लाहौर में हुआ था और लाहौर महमूद गजनवी के समय में ही तुर्की शासन का केन्द्र बन गया था, किन्तु आप श्री महमूद शेरानी के इस आक्षेप को कैसे दूर कर सकते हैं कि रासो मुगलों के समय में बना। कारण कि उनसे पहले भारत में इन शब्दों का व्यवहार था ही नहीं। यही क्यों, अन्यत्र भी दुर्लभ था। किसी प्रकार 'खान' जैसे शब्द को इधर उधर कर लें क्यों कि इन मंगोली खानों से कुछ न कुछ पहले भी भारत का परिचय था ही और साहित्य में इसका प्रयोग भी पाया जाता है। किन्तु 'मीर आतिश' जैसा पदवी सूचक शब्द तो मुसलमानी इतिहास में मुगलों के समय में ही आता है। विषय को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। श्री ओझा और श्री शेरानी ने रासो को इधर की रचना ठहराने में कुछ अति भले ही कर दी हो पर कोई भी व्यक्ति उनकी शोधों को देख कर यह नहीं कह सकता कि उनका पक्ष किसी प्रकार भी दुर्बल वा निर्मूल है। हाँ, यदि उनके पक्ष को सक्षेपमें देखना हो तो 'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा' से प्रकाशित 'कोशोत्सव-स्मारक संग्रह' तथा लाहौर की 'ओरियंटल कालिज' मेगजीन के १९३४ से १६३७ तक के अकों को देखना चाहिए।

महमूद शेरानी साहब ने और भी बहुत ही रोचक और मनोरंजक ढंग से रासो की खिल्लियाँ उड़ाई है और कुछ अपनी अनभिज्ञता अथवा अल्पज्ञता के कारण रासो को शाहजहाँ के समय की रचना मानने का सकेत किया है। उनका यह कहना है कि रासोकी पद्मावती 'पद्मावत' का प्रभाव है अथवा रासो में शहाबुद्दीन गोरी को मआजुद्दीन न लिखना मुगल काल का प्रभाव है ठीक नहीं प्रतीत होता। किन्तु तो भी यह तो मानना ही पड़ता है कि उनकी यह पकड़ पक्की है कि समस्त रासो मुगली शासन से पहले की चीज नहीं है।

रासो का जो वर्तमान रूप है यह कब बना इसका भी ठीक ठीक पता बताना कठिन है। तो भी यह कहा जा सकता है कि संवत् १८०० विक्रमी के लगभग एक लाख पाँच सहस्र परिमाण का रासो विद्यमान था। क्योंकि चन्द के वशज कवि जदुनाथ ने वृत्त-विलास नामक ग्रन्थ में लिखा है--

'एक लाख रासो कियो , सहस पंच परिमान ।
पृथीराज नृप को सुजस , जाहिर सकल जहान ॥'

कवि जदुनाथ चन्द के वंशज हों या न हो किन्तु इतना तो है ही कि उनके समय में रासो की संख्या इतनी प्रसिद्ध थी। इससे भी अधिक दृढ़ क्या, अकाट्य प्रमाण एक और मिलता है जिससे रासो की संख्या का तो पता नहीं चलता परन्तु इतना सिद्ध हो जाता है कि रासो जैसी कोई पुस्तक उस समय थी अवश्य। उदयपुर के महाराणा राजसिंह ने राजसमुद्र की नौचौकी पर जो राज-प्रशस्ति बड़ी-बड़ी शिलाओं में खुदवा कर लगवाई है उसमें 'भाषा-रासा-पुस्तक' का स्पष्ट उल्लेख है; और यह प्रशस्ति लिखी गई है संवत् १७३२ में। इससे अधिक पुष्ट प्रमाण अभी तक रासो की प्राचीनता का कोई नहीं मिला है। हाँ, इतना अवश्य है कि 'काशी नागरी-प्रचारिणी' के संग्रहालय में जो रासो की सबसे प्राचीन हस्त-लिखित प्रति कही जाती है वह संवत् १६४२ की है। यदि उसमें किसी प्रकार का भ्रम नहीं है तो 'पृथ्वीराज-रासो' को यह रूप संवत् १६४२ के पहले ही कभी न कभी मिला होगा। उदयपुर के विक्टोरिया हाल के पुस्तकालय में जो रासो की पुस्तक है उसके अन्त में एक छन्द है जिससे ज्ञात होता है कि राणा अमरसिंह ने कभी इसके सचय का प्रयत्न किया था। वह छन्द है—

"गुनमनियन रस पोइ चनूद कवियन कर विद्धिय।
छन्द गुनी ते तुट्ट मन्दकवि भिन भिन क्किद्धिय॥
देस देस विक्खरिय मेलगुन पार न पावय।
उद्दिम करि मेलवत आस बिन आलय आवय॥
चित्रकूट रान अमरेस नृप हित श्रीमुख आयसु दयो।
गुन बिन बीन करुनाउदधि. लिखि रासो उद्दिम कियो।"

इसमें चित्तौड़ के जिस 'रान अमरेश नृप' का उल्लेख हुआ है वह कौन था, इसमें विवाद नहीं उठ सकता क्योंकि जो राणा अमरसिंह, राणा राजसिंह के उपरान्त हुआ है वह तो था ही नहीं। इसके पहले का राणा अमरसिंह

संवत् १६५३ में सिंहासन पर बैठा। अतः यदि उसी ने यह आज्ञा दी तो इसका अर्थ यह हुआ कि संवत् १६५३ के पहले रासो का कोई संगृहीत रूप विद्यमान न था। फिर काशी की संवत् १६४२ वाली प्रति की क्या स्थिति होगी, यह विचारणीय है। तो क्या, 'चित्रकूट दयो……' का अर्थ यह नहीं हो सकता कि राणा ने अमरेश के लिए अपने श्रीमुख से बिखरे हुए रासो को संगृहीत करने की आज्ञा दी। इस अर्थ से अमरेश का नृप होना सिद्ध होता हो यह भी कोई बात नहीं, क्योंकि इसका अर्थ 'अमरेश और नृप' भी हो सकता है। यदि यह सच है तो इसका तात्पर्य हुआ कि महाराणा प्रताप अपने पुत्र अमरसिंह तथा अन्य राजाओं में महाराज पृथ्वीराज की आत्मा को प्रविष्ट कराने के लिए 'पृथ्वीराज' रासो' का संकलन अनिवार्य समझा, और उसके सम्पादन के लिए स्पष्ट आज्ञा दी। जो हो, इसकी आरम्भ की दो पंक्तियों में जो बात कही गई है वह बड़े महत्त्व की है। उन पर ध्यान देने से प्रकट होता है कि कवि चन्द की रसभरी गुणवती रचना मन्द कवियों के हाथ में पड़ कर भिन्न भिन्न रूप धारण कर चुकी थी और देश देश में इस रूप में बिखर गई थी कि उसका किसी प्रकार मेल ही नहीं बैठता था, उसको मिलाने के लिये बड़ा उद्यम होता था, किन्तु किसी प्रकार मेल मिलता न था। इसी मेल का प्रयत्न चित्रकूट धनी महाराणा ने भी किया और वर्तमान रासो उसी सम्मिलन का प्रसाद है। रासो का मेल इतिहास से नहीं होता किन्तु उसमें परस्पर विरोधी बातें भी हैं इसको किसने दिखाया? तात्पर्य यह कि वर्तमान रासो महाराणा प्रताप अथवा उनके आत्मज की आज्ञा का प्रतिफल है और जब तक कोई और दृढ़ प्रमाण इसके विरुद्ध न मिले तब तक इसी को साधु मानना हमारा कर्तव्य है।

चन्द के वंशज जदुनाथ की चर्चा ऊपर हो चुकी है। उनके दूसरे वंशज नानूराम ने साहित्य के क्षेत्र में चन्द की जानकारी के लिए अपनी अच्छी धाक जमा ली है। उनका कहना है, मेरे पास संवत् १४५५ की लिखी हुई रासो की एक प्रति है। उन्होंने कृपा कर उसका एक अंश स्वर्गीय महामहो-

पाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री जी को भेंट किया था जो यत्र-तत्र प्रकाशित भी हो चुका है। उन्होंने अपनी पूरी प्रति की परीक्षा अब तक क्यों नहीं कराई, यह नहीं कहा जा सकता। उसका जो अंश देखने में आया है उसकी भाषा अवश्य ही वर्तमान रासो की भाषा से व्यवस्थित है किन्तु इतनी थोड़ी है और केवल एक ही 'समय' की है कि इसके आधार पर कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त यह भी भूलना न होगा कि मुनि जिनविजय जी को जो चन्द बरदाई के चार छप्पय मिले हैं उनकी भाषा से नानूराम की प्रति की भाषा का मेल नहीं है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि मुनि जिनविजय जी को जो छप्पय मिले है वे ही मूल पृथ्वीराज रासो के रूप हैं। इनमें से तीन तो किसी न किसी रूप में 'नागरी-प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित रासो में भी मिलते है ? शेष का पता अभी नहीं चलता। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि इनमें से एक में 'चन्द बलद्दिउ' की छाप भी है। देखिये—

'इक्कु वाणु पहुवीसु जु पइँ कइंवासह मुक्कओ,
उर भिंतरि खड़खड़िउ धीर कक्खतिर चुक्कउ।
वीअँ करि संधीउं भंमइ सूमेसर नंदण!
एहु सु गडि दाहिमओं खणइ खुदइ संइभरिवणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
न जाणउँ चंदबलद्दिउ किं न विछुट्टइ इह फलह॥"

'नागरी-प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित रासो पृष्ठ १४९६, पद्य २३६ में इसका रूप यह है—

"एक बान पहुमी नरेस कैमासह मुक्यौ।
उर उप्पर थरहर्‌यौ वीर कष्पतर चुक्यौ॥
बियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन।
गाढे करि निग्रह्यौ पनिव गड्‌यौ संभरिधन॥

थल छोरि न जाइ अभागरौ गाड्यौ गुन गहि आगरौ ।
इम जंपै चंद बरद्दिया कहा निघट्टै इय प्रलौ ।"

[पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रस्तावना पृ० ९; सिंघी जैन ग्रन्थ माला]

ध्यान देने की बात यहाँ यह भी है कि यही छन्द बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति में, जो संवत् १६५७ के लगभग लिखी गई थी, इस रूप में मिलता है—

"एकु बान पुहुमी नरेस कैमास हि मुक्कौ ।
उर उप्पर खर हन्यो वीरु कष्षहंतर चुक्कौ ॥
बियो बाँन संधान हन्यो सोमेसर नंदन ।
गहौ करि निग्रह्यौ पन्यो रड्यौ संभरि-नंदन ॥'

[ना० प्र० प०, सं० १९९६, पृ० २७९]

और नागरी-प्रचारिणी सभा की जिस प्रति का आधार लेकर 'पृथ्वीराज रासो' का सम्पादन किया गया है वह संवत् १७३२ की लिखी हुई है । मुनि जिनविजय ने पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह से जो छप्पय उद्धृत किया है उसकी संवत् १५२८ की प्रतिलिपि प्राप्त है और प्रतीत होता है कि "नागेन्द्र गच्छ के आचार्य उदयप्रभ सूरि के शिष्य जिनभद्र ने, मंत्रीश्वर वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह के पढ़ने के लिए, संवत् १२९० में, इस नाना-कथानक-प्रधान प्रबन्धावलि की रचना की ।" क्या ही अच्छा होता जो इधर भी ध्यान जाता, और क्या अच्छा न होता कि जहाँ जहाँ 'पृथ्वीराज रासो' की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें भी इन छन्दों को ढूँढ़ा जाता और उन सबको एकत्र कर लिया जाता जिससे भाषा की दृष्टि से ही सही रासो के विकास पर कुछ तो प्रकाश पड़ता । श्री अगरचन्द नाहटा ने बड़े श्रम से वीर-गाथा काल के जैन-साहित्य की भाषा के उदाहरण नागरी-प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४६, अंक ३ में प्रस्तुत कर दिया है जिनसे प्रकट होता है कि पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में जो छन्द दिये गये हैं उनकी भाषा अपने काल के अनुकूल ही है । जो हो यहाँ

यह प्रश्न अपने आप ही उठ खड़ा होता है कि कवि चन्द ने रचना किस भाषा में की। मो रासो में स्पष्ट कहा गया है—

'उक्तिधर्मविशालस्य राजनीति नवं रसम्।
षड्भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।' (आदिपर्व, छन्द ८३)

इसके षट्भाषा शब्द को लेकर रासो में परम्परागत षट् भाषाओं का दर्शन तो किया ही जाता है साथ ही 'कुरानं' से अरबी फारसी का अर्थ भी निकाल लिया जाता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। 'कुरान' का सम्बन्ध 'पुराणं' से है षट्भाषा से नहीं। यदि षट् भाषा का अर्थ स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग षट्भाषाओ का होता तो कोई बात न थी, किन्तु यहाँ तो एक ही छन्द में कई रूप दिखाई दे जाते हैं। इसका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं चन्द ने ही ऐसा किया। यह लेखकों का प्रमाद और शोधकों का प्रसाद भी हो सकता हैं। कहा जाता है कि डिंगल के कवि आज भी एक ही ग्रन्थ में नाना प्रकार की भाषा तथा रूपों का प्रयोग कर जाते हैं और भाषा में ओज लाने के लिये द्वित्व वर्णों का ही अधिक प्रयोग नही करते बहुत से वर्णों को द्वित्व का रूप भी दे देते है और अनुस्वार का प्रयोग तो यों ही कुछ अनुनासिक बनाने के लिए भी कर जाते है। इसका कारण भी है। रणभूमि में नाद का जितना प्रभाव पड़ता हैं मात्रा का नहीं। किन्तु क्या यही बात रासो के विषय में भी कही जा सकती है। आज हम संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को जितना भूले हुए है क्या उतना ही भूलना उस समय भी सम्भव था? सो भी चन्द बरदाई जैसे कुशल कवि से? नहीं ऐसा मानने का कोई दृढ आधार नहीं। वस्तुत: होना तो यह चाहिये कि रासो की रचना भी उसी भाषा में हुई जिसमें उस समय के अन्य जैन-रासाओं की और जो आज भी 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में उपलब्ध है। प्रसंगवश अब रासो शब्द पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिये। प्रकाशित रासो की पुष्पिका में कहा गया है—

'इति श्री कविचन्दविरचिते प्रथिराजरासके आदिपर्व नाम प्रथम प्रस्ताव सम्पूर्णम्।"

इससे सिद्ध ही है कि 'प्रथिराज रासके' पृथ्वीराज रासो का द्योतक है और 'रासक' रासा का शुद्ध संस्कृत रूप। तो इस रासक का रहस्य क्या है? कहने की बात नहीं कि रासक की गणना रूपक किं वा उपरूपक में हुई है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'पृथ्वीराज रासो' रासक के रूप में रचा गया। कहा भी गया है—

"सहस सत्त रूपक सरस गुन सुन्दर बहु वित्त,
ले पुस्तक कवि चन्द को दिय माता बहु रित्त॥" (६७, ५०)

इतना ही नहीं, यदि आप इस रासक को सामने रख कर 'पृथ्वीराज रासो' पर विचार करें तो आप ही अवगत होगा कि यही कारण है कि रासो का आरम्भ नट-नटी की भाँति कवि चन्द और उनकी पत्नी को लेकर हुआ है और आगे भी यह रूप बना रहा है। तो क्या इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि वस्तुतः रासो की रचना प्रदर्शन की दृष्टि से हुई थी और प्रतापी महाराज पृथ्वीराज की कीर्ति का कीर्तन ही इस प्रकार किया जाता था। स्मरण रहे, स्वयं रासो में कहा गया है —

'आसा महीव कव्वी नव नव कित्तिय सग्रह ग्रन्थ,
सागर सरिस तरगी बोहत्थग्ग उक्तियं चलय॥' (१, ८६)

यहाँ जिस सग्रह का उल्लेख किया गया है वही तो जयानक के पृथ्वीराज-विजय में भी विराजमान है। तो फिर इसका अर्थ यह क्यों न निकाला जाय कि वस्तुतः पृथ्वीराज-रासो महाकाव्य नहीं सग्रह अथवा कोष काव्य ही है। इसका ध्येय चरित लिखना नहीं चरित के मुख्य-मुख्य अगों को उभार दिखाना है। तात्पर्य यह कि प्रदर्शन की वस्तु होने तथा इसके अधिक प्रचार के कारण मुख-सुख-न्याय के अनुकूल अथवा काल चक्र की कृपा से, देश-काल के परिणाम-स्वरूप इसकी भाषा के अनेक रूप हो गये और जब इसका सकलन और संपादन हुआ तब किसी के सामने भाषा का प्रश्न ही नहीं रहा। और यह हुआ भी अच्छा ही, नहीं तो आज एक रासो में भाषा के इतने भिन्न-भिन्न रूप कैसे दिखाई देते और हम रासो को अपने समय का प्रतिनिधि

काव्य ही नही अपितु अपनी संस्कृति तथा अपनी भाषा का भी प्रतिनिधि रूप कैसे मानते ? आज का रासो कवि चन्द का रासो नहीं किन्तु उनके वंश का रासो अवश्य है। आज का रासो पृथ्वीराज का रासो नहीं किन्तु किसी राणा अथवा हिन्दू वीर का रासो अवश्य है। सच तो यह है कि इस रासो में पृथ्वीराज को वही स्थिति है जो लोक गीतों में राम की। और चन्द की भी वही स्थिति है जो उक्त गीतो में तुलसी की। 'थोर बनावें कबीरदास ढेर बनावें कविता' का यही तो प्रभुत्व है। हम पहले देख चुके हैं कि रासो में 'सहस सत्त रूपक सरस' का निर्देश है जिसका 'सहस सत्त' इस बात का प्रमाण है कि कवि चन्द की रचना 'सप्तसहस्र' ही थी। किन्तु आज रासो की स्थिति 'सप्तसहस्र' नहीं 'शतसहस्र' है। रासो में आदि पर्व में ही कहा गया है—

'शत सहस नख सिख सरस सकल आदि मुनि दिष्य
घट बढ़ मत कोऊ पढ़ौ मोहि दूषण न वसिष्य।' (१, ९०)

रासो के सम्पादकों ने इस 'सतसहस' का अर्थ 'शतसहस्र' लिया है जो प्रकाशित रासो के सर्वथा अनुकूल है किन्तु कोई कारण नहीं कि जब 'सप्तशती' 'सतसई' के रूप में बदल जाती है तब 'सप्तसहस्र' 'सतसहस' क्यो न हो जाय ? जो हो, इतना तो मानना ही होगा कि यह 'शतसहस्र' केवा एक लाख की रचना कवि चन्द की नहीं और उसके पुत्र जल्हण की भी नहीं, क्योंकि वर्तमान रासो मे उसकी संख्या उसके हाथ में पहुँचने के पहले ही 'सप्तसहस्र' क्या 'सप्तिसहस्र' से भी आगे बढ़ जाती है। अस्तु, निष्कर्ष यह निकला कि वर्तमान रासो को लेकर चन्द बरदाई की भाषा पर विचार करना प्रमाद होगा, विचार नही। साथ ही इतना और भी स्पष्ट कर देना है कि जो लोग कागद बाँचने के प्रयोग को रासो में देख कर उसे इधर की रचना समझते हैं, उन्हे यह भी जानना चाहिये कि पडित मंडली मे पत्री आज भी बाँची ही जाती है और कागद शब्द है भी 'कागज' से पुराना।

रासो के प्रसग में डिंगल और पिंगल का प्रश्न भी उठता ही रहता है। प्रश्न का समाधान तो हो नही पाता होता यह है कि डिंगल और पिंगल में

ही विवाद उठ जाता है । कुछ लोग कहते हैं पिंगल के ढंग पर डिंगल बना दूसरे लोग बोलते हैं ऐसा हो नहीं सकता डिंगल पिंगल से पुराना है। इसका कदाचित् कारण यह है कि इन लोगों को इसका पता नहीं कि पिंगल का अर्थ व्रजभाषा नहीं शिष्ट भाषा है । व्रजभाषा की रचना के पहले भी पिंगल का प्रयोग होता था और छन्द के प्रकरण में पिंगलाचार्य को कौन नहीं जानता ! पिंगल में रचना सदा से होती आई है और होती रहेगी भी। किन्तु साथ ही पिंगलबन्धुओं का पिंगल छाँटना भी चलता ही रहेगा । पिंगलबन्धु यदि पिंगल को छोड़ कर पिंगल के ढंग पर अपनी देश-भाषा में रचना करेंगे तो वह डिंगल नहीं तो और क्या होगी। डिंगल और कुछ नहीं इन पिंगली लोगों की काव्य-भाषा है। यही कारण है कि डिंगल में जहाँ प्राकृत और अपभ्रंश के रूप मिलते हैं वहीं ठेठ के भी । डिंगल को 'डगर,' 'डगल,' 'डिम+ल,' 'डींग+ल' आदि का रूपान्तर समझना ठीक नहीं जँचता । इसका सीधा संकेत पिंगल के आधार पर रची हुई ठेठ रचना ही है । हमें भूलना न होगा कि डिंगल में जो हेय की भावना है वह पिंगल के विचार से है। कौन नहीं जानता कि गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपनी वाणी को 'गिरा-ग्राम्य' ही कहा है और बड़े बड़े सम्राटों की प्रशस्तियाँ भी प्राकृत में लिखी गई हैं। नाम से नामी का बोध होता है तो हो, परन्तु यह तो सत्य है कि नाम नामदाता की समझ का परिचायक होता है न कि नामी की शक्ति और प्रतिभा का। अतएव यह कहना कि डिंगल इसी लिए ग्राम्य-गिरा का द्योतक नहीं कि इसमें बड़े बड़े रासा बने हैं, ठीक नहीं। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि रासो की रचना डिंगल में हुई, प्रत्युत यह है कि वह आज बहुत कुछ डिंगल के रूप में ही हमारे सामने है उसके पिंगल का पता लगाना पण्डितों का कार्य है सामान्य वाग्भटों की चिन्ता नहीं।

रासो की रचना के सम्बन्ध में एक और बात भी कही गई है। कहते हैं—

'उभय मास दिन अर्द्ध वर किय रासो चहुआन,
रसना भट्ट सुचन्द की बेलि उमा परमान'।

इसमें 'उभय मास' तो अवश्य ही दो मास अथवा ६० दिन का द्योतक है। किन्तु 'दिन अद्ध वर' का अर्थ ठीक ठीक नहीं खुलता। यदि दिनअद्ध का अर्थ 'आधा दिन और 'वर' का अर्थ 'वार' अथवा सात लिया जाय तो सब मिलकर साढ़े सरसठ दिन में चन्द ने रासो की रचना की। विशेष बात तो यह है कि यह दोहा सरसठवें समय का दोहा है और इसकी छन्द संख्या ४९ है और इसी के उपरान्त हम 'सहस सत्त रूपक सरस' के उक्त निर्देश को पाते है। तो क्या इससे यह स्वतः स्पष्ट नहीं हो जाता कि एक दिन में एक समय की रचना हुई और रचना हुई इस निमित्त से कि लोग उसके अभिनय को देखें, उसके वृत्त को सुनें और पृथ्वीराज के महत्त्व को मानें ? रासक नाम भी तो इसी को चरितार्थ करता है ?

काव्य की दृष्टि से इस काव्य का महत्त्व क्या होगा इसके विषय में कुछ विशेष रूप से कहना उचित नहीं होगा, फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि जिसके वृत्त की प्रशंसा उसी के समय के कवि जयानक ने की है और जिसके आधार पर इतना बड़ा वृत्त और विशालकाय ग्रन्थ खड़ा हुआ है वह अवश्य ही उच्चकोटि का काव्य रहा होगा। इसके सम्बन्ध में रासो में यह भी कहा गया है कि जो इसको विधिपूर्वक नहीं सुनेगा उसी को इसमें कुछ और दिखाई देगा ; कारण यह कि इसमें मानव-जीवन का कोई अंग छूटा नहीं है। एक एक काव्य वर्णन अनेक अनेक ढंग से हुआ है जो कहीं प्रगट है कहीं गुप्त। इसमें वीरता ही नहीं विलास भी है, धर्म ही नहीं काम भी है, अर्थ ही नहीं मुक्ति भी है। कहा गया है—

'कुमति मति दरसत तिहिं, विधि विना न श्रव्वान,
तिहिं रासो जु पवित्र गुण सरसौ ब्रह्म रसान'। (१,८९)

"इस ग्रन्थ की महिमा तो यह है—

"काव्य समुद्र कवि चन्द कृत, मुगति समप्पन ज्ञान,
राजनीति बोहित सुफल, पार उतारन यान।" (१, ९०)

संक्षेप में कहना यही है कि चन्द वरदाई ने अपने रासक को सभी प्रकार से रसपूर्ण बनाने का प्रयत्न अवश्य ही किया होगा और अवश्य ही इसमें पृथ्वीराज की कीर्त्ति के साथ ही साथ काव्य का कौशल भी दरशाया गया होगा। वर्तमान रासो भी इसका प्रमाण है। किन्तु कहाँ कितनी कविता इसमें कवि चन्द की है और कितनी किसी और ही चन्द की यह कहना अभी तो कठिन ही है, आगे की राम जाने। राम का अर्थ है हिन्दी के हितैषी और रासो के अभिमानी। रासो का जो सम्पादन आज से ७० वर्ष पूर्व एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के द्वारा हो रहा था और जो प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता डाक्टर बूलर के अनुरोध से स्थगित कर दिया गया सो तो स्थगित ही रहा, इधर नागरी-प्रचारिणी सभा ने भी उसका प्रकाशन करके भी उसकी ओर से अपना मुहँ मोड़ लिया है। उसको जाली सिद्ध करने का जो प्रबल प्रयास हुआ उसका सुखद परिणाम इससे और अधिक भला क्या हो सकता था! जोधपुर के श्री मुरारिदान और उदयपुर के श्री श्यामलदास की शोध को श्री ओझाजी ने पूर्ण कर दिया अब दूसरी ओर की शोध की बारी है जिसका सूत्रपात मुनि जिन विजय जी ने कर दिया है। अब उसको पूरा करना श्रम, शक्ति और शील के हाथ है। किन्तु उसका होना है परम आवश्यक। उसे अधूरा छोड़ना शोध के क्षेत्र में कलंक है और हिन्दी के लिये घातक भी। क्या 'सभा' इसकी भी कुछ सुधि लेगी? सुना है ओरियंटल कालेज, लाहोर के पुस्तकालय में भी कोई पृथ्वीराज रासो है जिसे लोग अधिक ठीक समझते है। उसकी भी जाँच होनी चाहिए। जाँच की एक कसौटी तो जिनविजय मुनि के दिए गए छप्पय ही हैं। जिन विजय जी ने पुरातन-प्रबन्ध-सग्रह में जो तीन छप्पय उध्दृत किए हैं उनमें से एक पहले आ चुका है, शेष दो ये हैं—

अगहु म गहि दहिमओ रिपुरायखय करु,
कूहुँ मन्त्रु मम ठवयो एहु जंबथ (प?) मिलि जग्गरु।
सह नामा सिक्खवउँ जइ सिक्खिविउँ बुज्झइँ,
जपइ चदबलिहु मज्झ परमक्खर सुज्झई।

पहु पहु विराय सइं भरिधणी सपंभरि सउसाइ संभरिसि,
कह बास विग्रास विसहविग्णु, वच्छि वंधिवद्धओं गरिसि।

पृष्ट ८६ पद्यांक (२७६)

चिरीह लक्षतु पार सबल पाषरी अइँजसु हय,
चऊ रहस्य मयमत्त दंति गज्जहि महामय।
वीसलक्ख पायक्क सफर प्यारक्क धणुद्धुर,
लसड्ड अरु बलयान संखकु जाणइ तांह पर,
छत्तीसलक्ष नराहिवई विहि विनडिओ हेतकिन भयउ।
ज यचन्द न जाणउ ज्ल्हुकइ गयउ कि मूड कि धरि गयऊ

पृष्ठ ८८ पद्यांक (२८७)

२—विद्यापति

विद्यापति और बिहारी हिन्दी के उन कवियों में से हैं जिनको लोग चाहते तो नहीं पर मानते अवश्य हैं। और ऐसा मानते हैं कि पाठ्य के रूप में छात्रों के सामने उन्हें रख भी देते हैं। और ऐसा देखने में भी आता है कि प्राय: लोग विद्यापति और बिहारी को किसी न किसी रूप में पढ़ लेना उचित समझते हैं। जानकारी के लिए, कला के लिए, रस के लिए, चाहे जिस किस के लिए, किन्तु पढ़ते उन्हें अवश्य हैं। इनमें बिहारी की गणना तो कभी भक्तों में नहीं हुई किंतु विद्यापति भक्त भी माने गये। नाभादास के 'भक्त-माल' में उनका उल्लेख हुआ है सन्तों की सूची में उनका नाम यत्र-तत्र मिलता है और चैतन्य मण्डली में तो उनके पदों का कीर्तन ही होता है। कदाचित् यही कारण है कि विद्यापति के विषय में लिखते समय प्राय: यह विचार भी उठता है और परीक्षा से लेकर पोथियो तक इसका विचार भी होता है कि वास्तव में विद्यापति शृंगारी थे अथवा भक्त। हमारी समझ में इस शृंगारी और इस भक्त को लोग जिस दृष्टि से देखते हैं वह दृष्टि ही ठीक नहीं। कारण यह कि शृंगारी और भक्त में विरोध नहीं। भक्त शृंगारी हो सकता है और शृंगारी भक्त भी। कांत भाव की जो उपासना होगी वह शृंगार से दूर नहीं जा सकती। उसको शृंगार के सहारे ही चलना होगा। यही कारण है कि कबीर जैसे सुधारक और रूखे व्यक्ति को भी—

> "काम मिलावै राम को, जो कोई जानै भेव"
> कबीर विचारा क्या करे, यों कह गया शुकदेव।

का उद्घोष करना ही पड़ा; और राधा माधव के विलास को भी कुछ न कुछ लेना ही पड़ा। और तो और गोस्वामी तुलसीदास को भी, 'गीतावली' के अन्त में कुछ केलि का विधान करना पड़ा और 'बरवै रामायण' तथा 'नहछू' में कुछ इसकी बानगी भी

दिखानी ही पड़ी। 'विंध्य के वासी उदासी' में भी कुछ ऐसा ही रङ्ग उड़ाया गया और 'विनयपत्रिका' के अन्त में भी 'नागरि ज्यों नागर नवीन' को अथवा 'राम-चरितमानस' में 'कामिहि नारि पियार जिमि' का निर्देश कर इसके महत्त्व को मानना पड़ा। तात्पर्य यह कि शृंगार की मूल भावना अथवा रति का क्षेत्र इतना व्यापक और निगूढ़ है कि उससे प्रकृति का कोई कोना रिक्त नहीं उससे घट-घट अभिषिक्त है। कहा जाता है कि विद्यापति ने जो शृंगार को लिया है वह वासना अथवा दरबारी कामुकता के कारण ही, नहीं तो शैव होते हुए उन्हें राधा-माधव की क्यों सूझती! कहने को तो यह बहुत ही सरल तथा स्वाभाविक है किन्तु सिद्ध करने में अत्यन्त ही कठिन। इस जटिलता के मूल में तत्त्व दृष्टि नहीं युग की प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति, प्रकृति को बदल नहीं सकती, किन्तु उसके रूप को बदल देती है। इसमें सन्देह नहीं कि उसका वही रूप हमें रुचता है जो हमारी रुचि के अनुकूल होता है और हमारी रुचि वही होती है जो देशकाल के अनुसार अपना रंग बना लेती है अन्यथा शैव होते हुए भी महाकवि कालिदास शिव और पार्वती के शृंगार का खुला वर्णन न करते और उपनिषदों में भी इसका प्रसङ्ग ऐसा न आता कि आज उसका हिन्दी अनुवाद करने में भी लोगों को संकोच होता। यद्यपि आज-कल का प्रगतिवाद इस प्रवृत्ति और इस रुचि के मोड़ने में लगा है तथापि उससे कुछ हो नहीं सकता। कारण कि उसमें संयम नहीं सनक या उन्माद है। विद्या-पति ने शैव होते हुए भी अपने गीतों में शिव को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना कि माधव को। उनका एक पद है जिसमें कहा गया है—

तातल सैकत बारि बिन्दु सम,
सुत-मित रमनि समाज।
तोहे बिसारि मन ताहे समर्पिन,
अब मझु हब कोन काज।
माधव हम परिनाम निरासा,
तुहुँ जग तारन दीन दयामय,
अतए तोहर बिसवासा।

आध जनम हम नींदु गमायन,
जरा सिसु कत दिन गेला।
निधुवन रमनि रभस रंग मातन,
तोहे भजब कोन बेला।
कत चतुरानन मरि मरि जाओत,
न तुव आदि अवसाना।
तोहे जनम पुन तोहे समाओत,
सागर लहरि समाना।
भनहि विद्यापति सेस समन मय,
तुव बिनु गति नहीं आरा।
आदि अनादि नाथ कहाओसि,
अब तारन भार तुहारा ॥ २५४ ॥

इसमें माधव को जो परात्पर मूल माना गया है उसको दृष्टि में रखकर इस पद पर भी ध्यान दीजिए—

माधव बहुत मिनति कर तोय।
दए तुलसी तिल देह समर्पिनु,
दय जनि छाड़बि मोय।
गनइत दोसर गुन लेस न पाओबि,
जब तुहुँ करबि विचार।
तुहू जगत जगनाथ कहाओसि,
जग बाहिर न इ छार॥
किए मानुस पशुपखि भए जनमिए,
अथवा कीट पतंग।
करम विपाक गतागत पुनु पुनु,
मति रह तुअ परसंग।
भनइ विद्यापति अतिसय कातर,
तरइत इह भव-सिन्धु।

तुअ पद-पल्लव करि अवलम्बन ,
तिल एक देह दिनबन्धु ॥ २५३ ॥

प्रथम पद के "तोहे जनम पुनि तोहे समाओल सागर लहरि समाना" के साथ इस पद की 'करम विपाक गतागत पुनु पुनु अति रह तुअ परसंग' की घोषणा पर विचार करने के उपरान्त कोई कह नहीं सकता कि विद्यापति सचमुच शैव थे, वैष्णव नहीं। इतना ही नहीं, विद्यापति के अवसान का जो पद कहा जाता है वह भी कोरे विराग का नहीं। लीजिये कहते हैं—

दुल्लहि तोहरि कतए छथि माय।
कहुन ओ आवथु एखन नहाय॥
बृथा बुझथु संसार बिलास।
पल पल नाना तरह क त्रास॥
माय बाप जौ सदगति पाव।
संतति को अनुपम सुख आव॥
विद्यापतिक आयु अवसान।
कातिक धवल त्रयोदसि जान॥

इसमें भी पत्नी का संसार विलास को व्यर्थ मानने पर भी साथ जाना ही ठीक ठहराया गया है। तो क्या विद्यापति किसी भी दशा में दम्पति की उपेक्षा उचित नहीं समझते थे और शिव-शक्ति, राधा-माधव और स्त्री-पुरुष को साथ ही साथ देखना चाहते थे? यदि यह ठीक है तो कोई कह नहीं सकता कि वस्तुतः विद्यापति शैव अथवा शाक्त थे, वैष्णव कदापि नहीं। कारण यह कि शैव शिव को महत्त्व देते हैं तो शाक्त शक्ति को; किन्तु दोनो को समरस किया गया है राधामाधव में ही। राधा-माधव में राधा किस प्रकार राधा भी रहती है और माधव भी बन जाती है, यह भी आपको विद्यापति में मिल जायगा और कुछ इस ओर संकेत भी कर जायगा कि वास्तव में विद्यापति इनको क्या समझते हैं, और क्यों माधव को ही परम तत्त्व के रूप मे देखते तथा राधा को उनकी शक्ति समझते हैं। देखिये तो राधा की विरह-दशा कैसी है। लिखते हैं—

अनुखन माधव माधव सुमरत,
सुन्दरि भेलि मधाई ।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल,
अपने गुन लुबुधाई ॥

माधव, अपरूब तोहर सिनेह ।
अपने विरह अपन तनु जरजर ,
जिबइत भेलि सन्देह ।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि ,
छलछल लोचन पानि ।
अनुखन राधा राधा रटइत ,
आधा आधा बानि ॥
राधा सयँ जब पुनतहि माधव,
माधव सयँ जब राधा ।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत ,
बाढ़त विरहक बाधा ॥
दुहुदिसि दारू-दहन जैसे दगधई,
आकुल कीट परान ।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि ,
कवि विद्यापति भान ॥ २१७ ॥

स्मरण रहे विद्यापति ने राधा को 'कलावति' भी कहा है। उधर एक बात और भी विलक्षण देखने में आती है, जो यह है कि विद्यापति ने एक पद में स्पष्ट कहा है कि सिवसिंह शिव के अवतार हैं। उनका कहना है—

भनइ विद्यापति कवि कण्ठहार ।
रस बुझ सिवसिंह सिव अवतार ॥ १७९ ॥

इस कथन में जो 'सिव अवतार' के साथ 'रसबुझ' आया है वह बड़े ही काम का है। विद्यापति ने बार बार इस रसज्ञता का उल्लेख किया है। कहीं कहते हैं—

राजा सिवसिंह रूप नारायन ।
लखिमापति रस जान ॥ १४३ ॥

तो कहीं लिखते हैं —

भन कबि विद्यापति काम-रमनि रति कौतुक बुझ रसमन्त ।
सिव सिवसिंघ राउ पुरुष सुकृत पाउ लखिमा देइ रानि कन्त ॥ २२ ॥

इससे भी विलक्षण बात यह है कि विद्यापति ने राजा के साथ ही साथ रानी का उल्लेख भी अवश्य किया है। दम्पति पर उनकी कुछ ऐसी विशेष ममता है कि उसको छोड़ कर 'रस' ला ही नहीं सकते। लिखते हैं—

विद्यापति कवि गाओल रे ।
रस बूझ रसमन्त ॥
देवसिंघ नृप नागर रे ।
हासिनि देइ कन्त ॥ २९ ॥

तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित न होगा कि विद्यापति दम्पति को छोड़ नहीं सकते थे और दोनों के मूल में ही रस का मूल समझते थे। विद्यापति का इस क्षेत्र में अभिमत क्या था, इसका संकेत कदाचित् इस पद में हाथ लगे। कहते हैं :—

ई रस रसिक विनोदक बिंदक ।
कबि विद्यापति गाबे ॥
काम प्रेम दुहु एक मत भए रहु ।
कखने की न कराबे ॥ १२१ ॥

इस स्थिति को और भी स्पष्ट समझने के लिए उनके इस कथन पर—

मधुर नटन गति भंग, मधुर नटिनी नट संग ।
मधुर मधुर रस गान, मधुर विद्यापति भान ॥ १८३ ॥

निश्चय ही यहाँ जिस मधुर रस का उल्लेख किया गया है वह शृंगार का विरोधी नहीं, उसी का दिव्य रूप है। विद्यापति पर 'रासरस वर्णन' का प्रभाव क्या पड़ता है, इसे भी देख लें। स्वयं लिखते हैं :—

समय बसंत रास रस वर्णन
विद्यापति मति छोभित होति ॥ १८४ ॥

कहने का तात्पर्य यह कि विद्यापति की रसमय वाणी को समझने के लिए काम और प्रेम के सम्बन्ध को समझना, उनके स्वरूप पर विचार करना और उनके समन्वय को जानना चाहिये। इसके बिना विद्यापति को समझना सम्भव नहीं। विद्यापति की दृष्टि में राग क्या है और रस किस प्रकार अनुभवसिद्ध है इसे भी जान लें। उनका कथन है—

सखि, कि पुछब अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए,
तिल तिल नूतन होय ॥
जनम अबधि हम रूप निहारब,
नयन न तिरपित भेल ॥
से हो मधु बोल स्रवनहि सूनल,
श्रुति पथ परस न भेल ॥
कत मधु जामिनि रभस गमाओल,
न बूझल कइसन केल ॥
लाख लाख जुग हिय हिय राखल,
तइयो हिय जुडल न गेल ॥
कत विदगध जन रस अनुमोदइ,
अनुभव काहु न पेख ॥
विद्यापति कह प्रान जुडाएत,
लाखे न मिलल एक ॥ २२८ ॥

इसमें जहाँ 'लाख लाख जुग हिय हिय राखल, तइओ हिय जुडल न गेल' में नित्य लीला का निर्देश किया गया है वहीं 'कत विदगध जन रस अनुमोदइ, अनुभव काहु न पेख' में अनुभव का विधान भी। सचमुच रस अनुमोदन की वस्तु नहीं, अनुभव की विभूति है। यही कारण है कि विद्यापति

ने अपने पदों में सर्वत्र अनुभव का ही अनुमोदन किया है। हाँ, पतंग को में पड़ते हुए तो आपने भी देखा होगा, किंतु उसके रहस्य को विद्यापति के मुँ सुनिये। उनकी नायिका कहती है—

सजनी अपद न मोहि परबोध।
तोड़ि जोड़िअ जहाँ गाँठ पड़ए तहाँ,
तेज तम परम विरोध॥
सलिल सनेह सहज थिक सीतल,
इ जानए सब कोई॥
से जदि तपत कए जवने जुड़ाइअ,
तइओ भिरत रस होई॥
गेल सहज हे कि रिति उपजाइअ,
कुल-ससि नीली रंग॥
अनुभवि पुनि अनुभवए अचेतन,
पड़ए हुतास पतंग॥ १५०॥

'अनुभवि पुनु अनुभवइ अचेतन, पड़ए हुलास पतंग' मे पतंग के बार बार आग से पड़ने का कारण क्या है? अचेतन हो कर भी वह बार बार आग में क्यों पड़ता और क्यों अपने आप उसी में होम देता है। वह नहीं चाहता कि उसको कोई इस चेष्टा से विरत करे। वह या तो इसकी सच्ची अनुभूति को प्राप्त करना चाहता है या उसकी अनुभूति ही उसको विवश करती है कि वह अपने आपको उस तेज मे होम दे। जब उसकी यह दशा है तो किसी चेतन प्राणी की दशा क्या होगी? जो होना था सो तो हो चुका। यह अनुभव सिद्ध बात है कि जिसमे जो कलंक लगा वह लग चुका, उसकी स्थिति फिर वही नहीं हो सकती जो लगने के पहले थी। प्रेम के क्षेत्र में काम-वासना से ही सही, उतर पड़ने पर प्रबोध की बात व्यर्थ है। कोई कितना ही किसी को क्यों न ज्ञान की गुटिका दे किन्तु किसी को स्थिति पहले की नहीं हो सकती। पानी जब गरम हो जाता है तब फिर वह किसी प्रकार फिर अपनी स्थिति मे नहीं आता। वह तो तभी अपनी

सहज शीतलता को प्राप्त कर सकता है जब वह धीरे धीरे आग में तप कर सूक्ष्म रूप से परम तत्त्व में मिल जाय। यही दशा अपनी भी तो है। प्रेमी प्रेम पात्र से नाता तोड़ सकता है किन्तु अपनी हृदय की कुहक को नहीं मिटा सकता। बस चाहे जैसे भी हृदय में वेदना उत्पन्न हो, उसकी सच्ची अनुभूति प्राप्त करनी ही चाहिये। प्रेम जीवन नहीं, जीव की उपेक्षा चाहता है। विद्यापति का कहना है—

मधु सम वचन कुलिस सम मानस,
प्रथमहि जान न भेला।
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देल,
गरुअ गरव दुर गेला॥
सखि हे, मन्द प्रेम परिनामा।
बड़ कए जीवन कएल अपराधिन,
नहि उपचेर एक ठामा॥
झाँपल कूप देखहि नहि पारल,
आरति चललहु धाई।
तखन लघु-गुरु किछु नहिं गूनल,
अब पछतावक जाई॥
एक दिन अछलहु आन भान हम
अब बूझिल अवगाहि।
अपन मूँड़ अपने हम चाँछल
दोख देब गए काहि॥
भनइ विद्यापति सुनु बर जौबति,
चित्त गनब नहिं आने॥
पेमक कारन जीउ उपेखिए,
जग जन के नहि जाने॥ १४४॥

चाहे जैसे हो, अपनी भूल से हो, दूसरे की वचना से हो जो प्रेम हो गया वह तभी सफल हो सकता है जब हम अपने आपको भुला दें। यह विस्मृति और

यह त्याग ही परम की प्राप्ति का कारण है और जब तक इसकी सच्ची अनुभूति नहीं होती तब तक किसी के कहने से न तो प्रेम किया जा सकता है और न किसी के समझाने से ज्ञानी बना जा सकता है। कदाचित् यही कारण है कि ज्ञानियों और भक्तों, क्या सभी साधकों ने अनुभूति को ही मुख्य ठहराया है और अनुभव को ही महत्त्व दिया है। विद्यापति ने भी इसी अनुभूति को रस का मर्म बताया है और इसी के लिए उन्होंने राधा-माधव के प्रेम का ऐसा विशद वर्णन भी किया है। यह प्रेम होता कैसे है, इसको भी दिखाने का प्रयत्न विद्यापति ने किया है। कहते और सभी अनुभवी कहते हैं कि यदि हमें मुक्त होना है तो फिर बालक बनना चाहिये। किन्तु कुछ जान कर अनजान बनना कितना कठिन है! जीवन में अभाव का अनुभव कब होता है? बालक को भूख लगती है। वह जानता है कि उसे क्या चाहिये। किन्तु काम-वासना इस रूप में हमारे सामने नहीं आती और आती है तो इस रूप में कि हम अपने आप को उसके अधीन पाते हैं। विद्यापति कहते हैं—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल,
स्रवन क पथ दुहु लोचन लेल ॥ ४ ॥

इस पद में जिस मेल की बात कही गई है क्या वस्तुतः वह मेल है? विद्यापति दृढ़ता के साथ कहते हैं—नहीं।

विद्यापति कह तुहु अगेआनि,
दुहु एक जोग इह के कह सयानि ॥ ४ ॥

सचमुच शैशव और यौवन में एकता की योग्यता नहीं। यही कारण है कि विद्यापति तुरत स्पष्ट करते हैं—

सैसव जौवन दरसन भेल।

हाँ, इनका मेल नहीं, इनका तो द्वन्द्व है। तभी तो उसी की पूर्ति में चट बोल पड़ते हैं—

दुहु दल बले दन्द परि गेल ॥ ५ ॥

इस द्वन्द्व का परिणाम होता क्या है? यही न कि कहीं से मनसिज आ जाता

है और चुपके से अपना राज्य स्थापित कर लेता है। और अपना शासन भी ऐसा चला लेता है कि—

सैसव जौवन दरसन भेल।
दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल॥ ६ ॥

विद्यापति यहाँ 'कवि सेखर' के रूप में हमारे सामने आते हैं और अपनी असमर्थता को प्रगट कर भिन्न भिन्न राज्य में भिन्न भिन्न व्यवहार बता जाते हैं। इस भिन्नता का क्षेत्र बहुत व्यापक है। विद्यापति में संकीर्णता नहीं। उनका पक्ष है :—

विष्णुं केऽपि निवेदयन्ति गिरजानाथं च केचित्तथा।
ब्रह्माख्यं प्रभुमालपन्ति भुवने नाम्नैव भेदो ह्ययम्॥
निर्णीतं मुनिभिः सतर्कमतिभिश्चेद्विरवमेकेश्वर-
न्तच्चिन्ता परमानसे त्वयि पुनर्भिन्ना कुतो भावना॥
—पुरुषपरीक्षा, धर्मकथा॥ १० ॥

किन्तु यह तो तत्वदृष्टि की बात हुई, व्यवहार में तो उनका पक्ष यह है—

बेरि बेरि अरे सिव मों तोय बोलों,
फिरसि करिअ मन माय॥ २३४ ॥

इसमें तो शिव जी को भी वह कृषक के रूप में देखना चाहते हैं। फिर उनके रसिक हृदय में वैराग्य के लिए स्थान कहाँ! नहीं, विद्यापति निवृत्ति मार्ग के पथिक नहीं, प्रवृत्ति मार्ग के भक्त हैं। उनको अपने जीवन के रंग ढंग से विराग होता है किन्तु कभी राग से नहीं। यदि यह सच है तो मानना ही होगा कि विद्यापति की अनुभूति रस की ही अनुभूति होगी और वह शृंगारी के अतिरिक्त और कुछ होंगे भी नहीं। यह बात दूसरी है कि उनके हृदय में राधा-माधव के साथ शिव-पार्वती को भी स्थान मिले। किंतु शिव-पार्वती के प्रेम में उनको वह प्रेम नहीं मिल सकता जो प्रेम अपने आप कहीं से हो जाता है और हमारा पिण्ड तब तक नहीं छोड़ता जब तक हम अपने आपको भुला नहीं देते। पार्वती ने

शिव को अपनी साधना से जीत लिया था और इसके फलस्वरूप शिव भी पार्वती के क्रीत दास हो गये थे। किंतु यह होना होना था, हो जाना नहीं। तात्पर्य यह कि राधा में माधव और माधव में राधा के प्रति जो सहज वेदना है और जो आपही आप दोनों में स्वतन्त्र रूप से घर कर दोनों को एक बना देती है वह शिव-पार्वती में नहीं। शिव-पार्वती में विचार और विवेक है; भावना और भाव नहीं। यही कारण है कि पति-पत्नी के रूप में जहाँ शिव-पार्वती की प्रतिष्ठा है वहीं प्रिय-प्रिया रूप में कृष्ण-राधा की। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाना चाहिए कि—'भलहर भलहरि भल तुअ कला, खन पितवसन खनहि वघछला।' के उपासक विद्यापति ने क्यों कला-रस की अभिव्यक्ति के लिए, अथवा काम-प्रेम की अनुभूति के लिए शिव पार्वती के प्रसंग को न चुन कर राधा-माधव के प्रेम को ही चुना।

राधा-माधव के प्रेम-प्रसंग में, कभी भी भूलना न होगा कि विद्यापति ने राधा और माधव को समदृष्टि से लिया है। दोनों मे दोनों के प्रति वही भाव दिखाया है और दोनो में मेल मिलाया है जयदेव की भांति एक सखी के द्वारा। पहले राधा की रूप-छटा को देखिए—

माधव, की कहब सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन बिहि आनि समारल,
देखल नयन सरूपे॥
पल्लव-राज चरन-जुग सोभित,
गति गजराज क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल,
तापर मेरु समाने॥
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल,
नाल बिना रुचि पाई।
मनि-मय हार धार बहु सुरसरि
तओ नहि कमल सुखाई॥

अधर बिम्ब सन, दसन दाडिम-बिजु
रवि ससि उगथिक पासे।
राहु दूर बस नियरो न आवथि
तैं नहि करथि गरासे॥
सारँग नयन बयन पुनि सारँग
सारँग तसु समधाने।
सारँग ऊपर उगल दस सारँग
केलि करथि मधुपाने॥
भनइ विद्यापति सुन बर जौवति
एहन जगत नहि आने।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन—
लखिमा देइ पति भाने॥१२॥

इस पद में कल्पना की जो विभूति देखने को मिली है वह तो काव्य की बात ठहरी। उसी को सामने रख कर अब कृष्ण के सौन्दर्य को भी देखिये—

ए सखि पेखलि एक अपरूप।
सुनइत मानबि सपन सरूप॥
कमल जुगल पर चाँद क माला।
तापर उपजल तरुन तमाला॥
तापर बेढ़लि बिजुरी—लता।
कालिन्दी तट धीरे चलि जाता॥
साखा—सिखर सुधाकर—पाँति।
ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति॥
विमल बिम्बफल जुगल विकास।
तापर कीर थीर करु वास॥
तापर चञ्चल खंजन—जोर।
तापर साँपिनि झाँपल मोर॥

ए सखि रंगिनि कहल निसान।
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन ॥
कवि विद्यापति एहि रस भान।
सुपुरुख मरत तुहू भल जान ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार प्रेम के प्रत्येक क्षेत्र में दोनो की स्थिति दिखाई गई है और अंत में दिखाया यह गया है कि किस प्रकार राधा माधवमय हो कर फिर राधा बन जाती है और उभय दशाओ में विरह-वेदना का अनुभव करती है। इसका अर्थ कदाचित् यह है कि राधा की अनुभूति और राधा की तन्मयता माधव से अधिक गहरी और तीव्र है। इसका कारण उसका नारीरूप ही है।

नर-नारी के रूप से विद्यापति कहाँ तक परिचित थे और उनकी भिन्न भिन्न प्रकृतियों के प्रदर्शन में उनको कहाँ तक सफलता मिली है, इसको कोई भी व्यक्ति उनकी पदावली में देख सकता है; किन्तु उसको उसमें जो बात सहसा न दिखाई देगी वह यह है कि विद्यापति क्यों इस रूप में उसका ऐसा खुला वर्णन करते हैं और क्यो अन्त में किसी न किसी दम्पति को विशेषतः 'राजा शिवसिंह रूपनारायन' और 'लखिमा देइ' को ला खड़ा कर देते हैं और बार बार इसकी सुधि दिलाते रहते हैं कि इस रस को कहता विद्यापति है और जानता शिवसिंह है। स्यात् इसका रहस्य यह है कि वस्तुतः राधा-माधव जो हैं वही लखिमा देवी और राजा शिवसिंह भी। उन्हीं की नित्य लीला अथवा समरसता की धारा तो यहाँ भी बह रही है। अस्तु, जहाँ कहीं आपको काम-केलि अथवा कला-रस दिखाई दे वहाँ उसको उसी मधुर-रस का प्रसाद समझें और उसी रूप में उसको ग्रहण भी करें।

कहा जाता है कि विद्यापति कामुक थे, विलासी थे, दरबारी थे, फिर शृंगार की ऐसी धारा बहाते नहीं तो और करते ही क्या? माना कि फिर यह सब कुछ ठीक है, किन्तु इसे भी ठीक कैसे मान लें कि एक विलासी कवि ऐसी पूत-रचना कर सकता है। विचार के लिए उनका वह पद लीजिए जिसका उनके जीवन से कुछ सम्बन्ध भी बताया जाता है और जिसे उनकी काव्य-कला की कसौटी भी ठहराया जाता है। कहते हैं कि जब अपनी उद्दंडता अथवा आत्माभिमान के

कारण राजा शिवसिंह बन्दी की दशा में दिल्ली पहुँच गए थे तब विद्यापति को भी चन्द बरदाई की भाँति अपने स्वामी के उद्धार की सूझी। चन्द बरदाई को जो सफलता मिली उसको सभी लोग जानते हैं। शत्रु मारा गया और दोनों को पर-लोक मिला। किन्तु विद्यापति की सफलता ऐसी नहीं रही। शत्रु भी जीता और प्रसन्न रहा और इन दोनों को भी अपना अपना राज्य मिल गया। किसके प्रताप से? काव्य के ही द्वारा ही न? विद्यापति से कहा गया कि सचमुच कवि हो तो एक ऐसी रमणी का वर्णन करो जो नहाती हो पर जिसको तुम देख नहीं रहे हो। विद्यापति ने चट कहा—

कामिनि करए सनाने।
हेरितहि हृदय हनए पँचबाने॥
चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख-ससि डर रोअये अँधारा॥
कुच-जुग चारु चकेवा।
निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा॥
ते संका भुज-पासे।
बांधि धएल उड़ि जाएत अकासे॥
तितल वसन तनु लागू।
मुनिहुक मानस मनमथ जागू॥
भनई विद्यापति गावे।
गुनमति धनि पुनमत जन पावे॥ २३॥

वर्णन कितना कवित्वमय है इसके बताने की आवश्यकता नहीं। 'चारु चकेवा' के उड़ने की कल्पना कितनी सटीक और अनुपम है और चन्द्रमा के डर से अन्धकार का रोना भी कितना सजीव है इसे कोई भी सहृदय समझ सकता है। हमें बताना तो यहाँ यह है कि 'हेरितहि हृदय हनए पँचबाने' और 'मुनिहु क मानस मनमथ जागू' में भी कुछ बात कही गई है। इसके द्वारा जो भाव उद्दीप्त हुआ है उसके लिए क्या 'गुनमति धनि पुनमत जन पावे' का विधान पर्याप्त नहीं

है। क्या यह लालसा और यह विधान वासना का परिणाम और विलास का प्रतिफल है? स्मरण रहे, विद्यापति काम, कला और रस के पथिक हैं कुछ विषय-वासना और भोग-विलास के नट नहीं।

विद्यापति के सम्बन्ध में विचार करते समय यह भी स्मरण रखना होगा कि विद्यापति ने 'पदावली' में लोक जीवन को लिया है राज-जीवन को नहीं। यही कारण है कि आज भी मिथिला में घर-घर उनकी वाणी का समादर होता है और स्त्रियाँ उसे समय-समय पर गाती और अपनी निगूढ़ वेदना को जगाती रहती हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि स्त्रियाँ तो उनको इस आदर इस भाव से देखें और तीर्थ-यात्रा तक में उसका गान करें और आज कल के आलोचक लोग कोठरी में बैठ कर उन पर फबतियाँ कसें। विद्यापति ने राज-जीवन को 'कीर्त्ति-लता' और 'कीर्त्ति-पताका' में लिया है। किन्तु 'कीर्त्ति-लता' और 'कीर्त्ति पताका' तो मैथिल भाषा में नहीं हैं। उनको तो उन्होंने स्वयं 'अवहट्ठ' में लिखा है। विद्यापति की सारी रचनाएँ भाषा की दृष्टि से तीन भागों विभक्त हैं संस्कृत, अवहट्ठ तथा देशी। देशी का देश से सम्बन्ध है, अवहट्ठ का दरबार से और संस्कृत का संस्कृति, धर्म तथा व्यवहार से। अस्तु, विद्यापति के हृदय को परखने के निमित्त कुछ उनकी अवहट्ठ और उनकी संस्कृत रचनाओं पर भी विचार कर लेना चाहिये।

भाषा के सम्बन्ध में विद्यापति का स्वयं कहना है—

'सक्कय वाणी बहुअ न भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा,
तँअ तैसन जम्पओं अवहट्ठा।' —कीर्त्ति-लता।

भाषा की दृष्टि से देखने से अवगत यह होता है कि विद्यापति के समय में संस्कृत की ओर से बहुतों का जी फिर चुका था। प्राकृत के विषय में उनका विचार है कि उसमें रस की धारा नहीं बह सकती। इन दोनों की उपेक्षा ही युग की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यदि इस समय लोगों की रुचि किसी वाणी में है तो वह देशी वाणी में ही। वही सबको मधुर लगती है। किन्तु एक ओर

भी भाषा है जिसको लोग उतनी तो नहीं किन्तु कुछ वैसी ही मधुर पाते हैं। वह और कुछ नहीं अवहट्ठ है। अवहट्ठ के बारे में विद्यापति ने अन्यत्र कहीं कुछ भी नहीं कहा है। हाँ इतना अवश्य किया है कि उसमें 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्ति-पताका' जैसी उच्च-कोटि की रचनाएँ कर डाली हैं। इसका कारण क्या है?

ध्यान देने की बात है कि विद्यापति ने अवहट्ठ को प्राकृत की कोटि में न रख कर देश-भाषा की कोटि में रक्खा है और कहा भी है कि वह सबको प्यारी भी है। अवहट्ठ वैसे है तो अपभ्रष्ट का रूपान्तर, किन्तु इसके सम्बन्ध में कुछ लोगों का विचार है कि अपभ्रंश के अन्तिम रूप को अवहट्ठ कहना चाहिए। अप-भ्रंश का प्रचार देश में किस प्रकार हुआ और एक ही अपभ्रंश किस प्रकार राष्ट्र-भाषा के रूप में चारो ओर फैल गई, इसका विचार यहाँ नहीं हो सकता। यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो नमिसाधु ने 'काव्यालंकार' की टीका में 'षष्ठो ऽत्र भूरिभेदो देश-विशेषादपभ्रंशः' की व्याख्या करते हुए 'आभीरी' के प्रसंग में लिख दिया है 'आभीरीभाषा अपभ्रंशस्थाकथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते' वही इस बात का प्रमाण है कि एक ही अपभ्रंश के देश-विशेष के अनुसार बहुत से भेद हो गए थे और उन्हीं भेदों में से एक का प्रचार मगध में भी था। नमिसाधु के समय (नवीं शदी) में जो अपभ्रंश मगध में कहीं कहीं दिखाई देती थी वह धीरे धीरे पर्याप्त मात्रा में फैल चुकी थी और प्रतीत होता है कि विद्यापति ने इसी फैलाव के कारण उसको अपनाया। अपभ्रंश के प्रचार का कारण बहुत कुछ राजपूतों का उत्कर्ष था। सिद्धों की बानियों में जो अपभ्रंश के रूप पाए जाते हैं उनसे यह भी प्रत्यक्ष होता है कि सिद्धों के द्वारा भी कुछ इस भाषा का प्रचार हुआ। इसका सारांश यह निकला कि शासन और धर्म दोनों ओर से अपभ्रंश को महत्त्व मिला। फलतः विद्यापति ने भी अवहट्ठ में रचना की। कहते तो यहाँ तक हैं कि 'कीर्त्ति-लता' ही विद्यापति की प्रथम रचना है। इसमें सन्देह नहीं कि स्फुट पदों को छोड़ कर यदि हम विद्यापति के किसी भी ग्रन्थ को लेते हैं तो उसमें कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती जिससे हम उसे 'कीर्त्ति-लता' के पहले की रचना मान लें। यही नहीं 'कीर्त्ति-लता' के उपरान्त जो रचना हमारे सामने आती है वह भी अवहट्ठ की रचना

'कीर्त्ति-पताका' ही है। तो क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि विद्यापति ने अपनी प्रबन्ध-रचना का आरम्भ अवहट्ठ में ही किया था। इसका एक और भी कारण है। विद्यापति 'कीर्त्ति-लता' के आरम्भ में ही लिखते हैं—

तिहुअव्व खेत्तहि काञि तसु कित्ति-वल्लि पसिरेहि
अक्खर खम्भा रम्भजु मञ्चो वन्दि न देहि।

और उसके अन्त में भी लिखा है—

एवं संगरसाहसप्रमथनप्रालब्धलब्धोदयाम्।
पुष्णाति श्रियमाशशांकतरिर्णीं श्रीकीर्त्तिसिंहो नृपः।
माधुर्य्यप्रसवस्थली गुरुयशोविस्तारशिक्षास्थली।
यावद् विश्वमिदं च खेलनकवेर्विद्यापतेर्भारती।

इन दोनों अवतरणो से सिद्ध तो यह होता है कि विद्यापति ने श्रीकीर्त्तिसिंह की 'कीर्त्ति-लता' को दूर दूर फैलाने तथा अमर बनाने के लिए ही अवहट्ठ में रचा था। 'कीर्त्ति-पताका' को भी इसी दृष्टि से तत्कालीन राष्ट्र-भाषा अथवा अवहट्ठ में फहराया था। विद्यापति ने फिर कोई प्रबन्ध-रचना नहीं की। इसके उपरान्त उन्होंने जो ग्रन्थ बनाए सभी संस्कृत में हैं।

संस्कृत के सम्बन्ध में हम पहले ही देख चुके हैं कि विद्यापति के समय में वह बहुतों को नहीं भाती। भाने का जहाँ तक प्रश्न है उन्होंने संस्कृत मे भाती हुई कोई रचना की भी नहीं। संस्कृत में की हुई उनकी रचनाएँ हैं—१ भूपरिक्रमा, २ पुरुष-परीक्षा, ३ लिखनावली, ४ शैव सर्वस्व-सार, ५ प्रमाणभूत-पुराण-संग्रह, ६ गङ्गावाक्यावली, ७ विभागसार, ८ दान वाक्यावली, ९ दुर्गाभक्तितरंगिणी, १० गयापत्तलक तथा ११ वर्षकृत्य। इनमें से कुछ तो कर्म-कांड की दृष्टि से लिखी गई हैं कुछ व्यवहार की दृष्टि से और कुछ उपदेश के विचार से। शुद्ध काव्य की दृष्टि से कोई नही। इनमे 'लिखनावली' का महत्त्व इसलिये विशेष है कि इसके द्वारा पता चलता है कि उस समय लिखा-पढ़ी और लेन-देन का ढर्रा क्या था। 'भू-परिक्रमा' से देश का और 'पुरुष परीक्षा' से काल का भी बहुत कुछ बोध हो जाता है। संस्कृत के इस व्यवहार का कारण यही है कि संस्कृत उस

समय भी धर्म-भाषा और राज-भाषा समझी जाती थी। उसका प्रयोग अभी राज-काज में होता था। और कर्म-कांडों में तो आज भी होता ही है। फिर विद्यापति उसकी अवहेलना क्यों करते ? अब रही 'देसिल बअना' की बात। सो तो सभी जानते हैं कि इस समय देश में चारों ओर देश-भाषा की धूम मची थी और उसी में योग जगाया जाता तथा जी रमाया जाता था। वीर और शृंगार, भक्ति और कर्म, दोनों अपने विस्तार का साधन लोक-वाणी को ही बना रहे थे। विद्यापति ने भी ऐसा ही किया। उन्होंने राज-कीर्त्ति के लिए अवहट्ठ को तो चुना किन्तु हृदय की मुक्त-धारा देशी वाणी में ही बही। विद्यापति के 'राजा शिवसिंह रूप नरायन लखिमा देइ प्रतिभाने' को कौन नहीं जानता ? किन्तु कितने लोग ऐसे हैं जो 'कीर्त्ति लता' और 'कीर्त्ति-पताका' के नृपति को जानते हैं।

विद्यापति की अवहट्ठ-रचना की जो अवहेलना हुई है उसका कारण यह नहीं है कि उसमें कवित्व नहीं है। प्रत्युत यह है कि हममें अतीत का अनुराग और उत्साह का उत्कर्ष नहीं है। विद्यापति ने कहा है—

गेहे गेहे कलौ काव्यं श्रोता तस्य पुरे पुरे।
देशे देशे रसज्ञाता दाता जगति दुर्लभः।

आप दाता को ज्ञाता समझ लें और फिर देखें कि कोई अड़चन आपके सामने रह जाती है या नहीं। स्मरण रहे, विद्यापति का यह भी कहना है—

करोतु कवितुः काव्यं भव्य विद्यापतिः कविः।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि हम आज कवि विद्यापति के भव्य-काव्य को बहुत कुछ भूल चुके हैं ? जो हो, विद्यापति की धारणा तो यह है—

बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
वो परमेसर हर-सिर सोहइ, इहि निच्चइ नायर मन मोहइ।

निश्चय ही विद्यापति की रचना नागरों का मन मोह लेती है।

विद्यापति स्वयं समझते थे कि उनमें जितना माधुर्य है उतना ओज नहीं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी भारती को 'माधुर्य्यप्रसवस्थली' कहा है तथापि

'कीर्त्ति-लता' को पढ़ कर कोई यह नहीं कह सकता कि 'कीर्त्ति-लता' में ओज है ही नहीं। भला जो व्यक्ति इस बात की घोषणा करता है कि—

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहिं पुरिसवो जम्ममत्तेन
जलदानेन हु जलओ न हु जलओ पुञ्जिओ धूमो।
सो पुरिसवो जसु मातो सो पुरिसवो जस्स अज्ज नेसत्ति,
इयरो पुरिसाआरो पुच्छविहूना पसू होइ॥

वही पुरुषार्थ, ओज और उत्साह से रहित रचना कब कर सकता है। अस्तु, उत्साह का यह रूप देखिये—

अब्जु वैरि उद्ध रञो सत्तु जइ संगर आवइ।
जइ तसु पष्ख सपष्ख इन्द अप्पन बल लावइ॥
जइ ता वष्खइ शम्भु अवर हरि वम्भ सहित भइ।
फणिवइ लागु गोहारि चाप जमराए कोप कइ॥
अंसलान जे मारञो तञो हुअञो तासु रूहिर लइ देञो पा।
अंवमान समअ निज जीव धके जै नहि पिट्ठ देषाए जा॥

—पृ० १०० कीर्त्तिलता

'कीर्ति-लता' में काव्य का अभाव नहीं। इस छोटे से प्रबन्ध में बहुत सी बातें आ गई है जो काव्य के क्षेत्र में ही नहीं इतिहास के क्षेत्र में भी काम की हैं। उनकी ओर सकेत कर बताना हम यह चाहते हैं कि विद्यापति का वर्णन सजीव, सटीक, सामयिक और उपयोगी है। उस समय की रहन-सहन बात-व्यवहार का, हाट-बाट और लेन-देन का जैसा चित्र इसमें मिलता है अन्यत्र दुर्लभ है। मत्त मंगोल का जो रूप हमारे सामने रक्खा गया है और उन्मत्त धाँगड़ का जो अतिचार दिखाया गया है वह तो देखने ही योग्य है। मोगल के बारे में लिखते हैं—

'गो-वम्भन-बध दोस न मानथि
पर-पुर-नारि बन्दि कै आनथि,
हस हरषे रुंड हासह जहिं
तरुणे तुरुक वाचा सए सह सहि।'

तो धाँगड़ के बारे में कहते हैं—

अरु कत धाँगड़ देसियथ जाइतें
गोरु मारि मिसि मिलि केए खाइतें ॥

—पृ० ९० ।

अरु धाँगड़ कटकहिं लटक बड़ जे दिसि धाड़हि जाथि,
तहँ दिसि केरी राए घर तरुणी हट्ट बिकाथि ।

इसी प्रकार तुरुकों के आचरण के सम्बन्ध में लिखते हैं—

अवे बे भड़न्ता सराबा पिबन्ता
कलीमा कहन्ता कलामे जियन्ता
कसीदा कटन्ता मसीदा भड़न्ता
कितेबा पढ़न्ता तुरुक्का अनन्ता ॥

—पृ० ४० ।

और उनके भोजन की दशा तो यह है—

'जो आनियँ आन कपूर सम, तबहुँ पिआजु पिआजु पै ।

—पृ० ४२ ।

यह तो हुई बात-व्यवहार और रंग-ढंग की बात । इसी प्रकार की अनेक बातें आप को 'कीर्त्ति-लता' में देखने को मिलेंगी । प्रसंगवश एक मद-मत्त हाथी का भी रूप देख लीजिए—

अणवरत हाथि मय-मत्त जाथि
भागन्ते गाछ चापन्ते काछ
तोरन्ते बोल मारन्ते घोल
संगाम थेघ भूमिट्ठ मेघ
अन्धार कूट दिगविजय छूट
ससरीर गब्ब देखन्ते भब्ब
चालन्ते काण पब्बअ समान

—पृ० ८२ ।

अधिक अवतरण देने की आवश्यकता नहीं। टाँकने की बात यहाँ यह है कि 'कीर्त्ति-लता' की अवहट्ठ संस्कृत के आधार पर ही खड़ी होती और उसी की शक्ति से समर्थ बनती है। साथ ही 'देसिल बअना' को भी साथ लिये चलती है। एक बात और, जहाँ 'पृथ्वीराज रासो' का प्रसंग कवि और उसकी स्त्री को लेकर चलता है वहीं 'कीर्त्ति-लता' का प्रसंग भृंग और भृंगी को लेकर। निश्चय ही 'कीर्त्ति-लता' का अध्ययन रासो अथवा वीर गाथाओं के साथ करना चाहिये और 'कीर्त्ति-लता' तथा 'कीर्त्ति-पताका' को उन्ही के वर्ग मे रखना भी चाहिये।

विद्यापति की एक और भी घोषणा है। उनका कहना है—

महुअर बुज्झर कुसुम-रस कव्व-कलाव छइल्ल
सज्जन पर-उअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल।

—पृ० ४।

सज्जन और दुर्जन में जो भेद किया गया है उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। यहाँ तो विचारणीय है 'कव्व कलाव छइल्ल' कवि कहता है किन्तु कवि-कला को जानता कोई छबीला छैला ही है। विद्यापति ने अन्यत्र भी कहा है—

'भन विद्यापति सुकवी भान, कवि के कवि कहँ कवि पहचान।

—पृ० २४९।

पहले तो विद्यापति ने सहृदय विदग्ध को ही लिया था। यहाँ उन्होंने काव्य-रस जानने के लिए कवि होना भी उचित ठहरा दिया है। समीक्षा के क्षेत्र में यही विद्यापति का पक्ष है। काव्य-कला और काव्य-रस को सचमुच वही समझ सकता है जिसके हृदय में कवि की सच्ची अनुभूति हो। पदावली में जो बारबार यह कहा गया है कि—

'सिवसिंघ राजा यहु रस जाने, मधुमति देइ सुकन्ता'

एवं— 'बूझ सिवसिंघ ई रस रसमय
सो रम देवि समाज।'

तथा— 'अभिनव नागर बुझए रसवन्त
मति महेसर रेणुका-देवि कन्त।'

उसका रहस्य भी यही है। इसी को लक्ष्य में रख कर महात्मा तुलसीदास ने भी कहा था—

उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।

विद्यापति की कविता मधुर-रस की कविता है। वह माधुर्य्य की वाणी है और है यौवन की रंग-स्थली। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह देश-काल से परे और अलौकिक है। उसमें भी इतिहास है और है उसमें भी व्यवहार। यदि उस समय के क्रम का रूप देखना हो तो—

'ब्र कौसल तुअ राधे, किनल कन्हाई लोचन आधे' ॥

—१०४।

को देखें। और यदि व्यवहार में जा कर वादी और प्रतिवादी का रंग देखना हो तो—

दखिन पवन बह दस दिस रोल,
से जन वादी-भाषा बोल ॥

—१८०।

को देखें। और दरबारी विद्यापति के कवित्व का रस लें।

विद्यापति जिस सरलता से किसी बात को बता जाते हैं और सहज में ही जितनी दूर तक दिखा जाते हैं उतना उस रूप में अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी नायिका कहती है—

"तेल-बिन्दु जैसे पानि पसारिय ऐसन मोर अनुराग।
सिकता जल जैसे छनहि सूखए तैसन मोर सुहाग ॥ २०२ ॥

पानी पर तेल का फैलना और बालू में पानी का चट सूख जाना किसने नहीं देखा है किन्तु अनुराग को स्नेह और सुहाग को पानी के रूप में इस प्रकार पहिचाना और साथ ही दरसाया भी किसने है?

श्याम से चिढ़ कर श्यामरंग से घृणा तो बहुतों को हुई है, किन्तु विद्यापति की नायिका यहाँ भी कुछ अपना अलग ही रंग जमाती है। श्यामता को दूर करने के लिए उसने क्या क्या नहीं किया यहाँ तक कि—

एक तील छल चारु चिबुक पर
निन्द्य मधुप - सुत सामा।
त्रिन अग्रे करि मलयज रंजन
ताहि छपाउल रामा॥

किन्तु इतने से ही श्यामता से मुक्ति कैसे हो सकती है ? उधर काले भ्रमर भी तो पीछे पड़े हैं। निदान विद्यापति कहते हैं—

मधुकर उर धनि चम्पक-तरु-तल,
लोचन-जल भरि पूर।
सामर चिकुर हेरि मुकुर पटकल,
टूटि भए गेल सत चूर।

इस प्रचण्ड कोप का अन्त भी देख लीजिए। कहते हैं—

मेरु सम मान सुमेरु कोप सम
देखि भेल रेनु समान।
विद्यापति कह राय मनावहि
आपु सिधारय कान्ह॥ १४५॥

वसन्त का वर्णन किस कवि ने नहीं किया। किन्तु विद्यापति ने उसके जन्म का जो सागरूप दिया है वह अन्यत्र कहाँ है ? कवि देव का—

'मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै।'

तो बहुत प्रसिद्ध है, किन्तु वह उतने व्यापक रूप में हमारे सामने नहीं आत जितना कि विद्यापति का वसन्त-जन्मोत्सव। देखिये, ऋतुराज का बड़ी वेदना के साथ जन्म हो गया है और चारो ओर मंगल मनाया जा रहा है—

नाचए जुवतिजना हरखित मन
जनमल बाल मधाई हे।
मधुर महारस मंगल गावए
मानिनि मान उड़ाई हे॥

ग्रह मलयानिल ओत उचित हे
नव घन भओ उजियारा।
माधवि फूल भेल मुकता तुल
ते देल बन्दनवारा॥
पीअरि पाँवरि महुअरि गावए
काहरकार धतूरा।
नागेसर-कलि संख धुनि पूर
तकर ताल समतूरा॥
मधु लए मधुकर बालक दएहलु
कमल-पंखरी-लाई।
पओनार तोरि सूत बाँधल कटि
केसर कएलि बघनाई॥
नव नव पल्लव सेज ओठाओल
सिर देल कदम्बक माला।
वैसलि भमरी हरउद गाबए
चक्का चन्द निहारा॥
कनअ केसुअ सुति-पत्र लिखिए हलु
रासि नछत कए लोला।
कोकिल गनित-गुनित भल जानए
रितु वसंत नाम थोला॥

विद्यापति ने वसन्त का वर्णन भाँति भाँति से किया है और वियोग की दशा में अन्य ऋतुओं की भी यत्र तत्र चर्चा की है। किन्तु उस मात्रा में नहीं। शरद् का वर्णन अपने ढंग का अनूठा है। एक एक अंग की दशा का उल्लेख इस ढंग से किया गया है कि प्रायः सभी प्रसिद्ध उपमान प्रतीक के रूप में सामने आ जाते हैं। नायिका ने एक एक करके सभी अंगों को प्रकृति के किसी न किसी पदार्थ को सौंप दिया है। यदि कुछ रह गया है तो

केवल उसका शरीर, सो भी बस स्नेह-वश। बारहमासा के रूप में जो ऋतुओं का उल्लेख हुआ है वह उतना सजीव नहीं जितना जायसी का। प्रकृति को अपने मूल-रूप में अंकित करना विद्यापति को इष्ट नहीं। वह तो उनकी दृष्टि में उद्दीपन-मात्र है सो भी माधुर्य के लिए ही। उनकी नायिका का प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ता है इसको भी देख लें। कहते हैं—

जहाँ-जहाँ पग जुग धरई। तहिं-तहिं सरोरुह झरई॥
जहाँ-जहाँ झलकत अंग। तहिं-तहिं बिजुरि तरंग॥
कि हेरल अपरुब गोरि। पइठल हिय मधि मोरि॥
जहाँ-जहाँ नयन विकास। तहिं-तहिं कमल प्रकाश॥ ३५॥

आदि वर्णनों को देखते हुए जायसी का वह रूप सामने आ जाता है जो साहित्य के क्षेत्र में सौंदर्य की अनुभूति के साथ ही प्रतिबिम्बवाद का परिचायक भी माना जाता है। जायसी कहते हैं—

नयन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर।

विद्यापति की इस भावना के साथ कहीं कुछ आजकल के रहस्यवाद अथवा छायावाद का मेल खाता है अथवा नहीं, इसका भी थोड़ा विचार हो जाना चाहिए। नोक-झोंक शीर्षक से जो कविताएँ संग्रहीत हैं उनमें आप इसकी पर्याप्त झलक पायेंगे और थोड़े से हेर-फेर के साथ उसे आधुनिक रूप में भी ढाल लेंगे। विद्यापति का एक गीत है—

नाव डोलाव अहीरे
जिबइत न पाओब तीरे
खर नीरे लो॥
खेबा न लेअइ मोले
हँसि हँसि की दहु बोले
जिव डोले लो॥

किए बिके ऐलिहु आये
बेढ़लिहु मोहि बड़ सापे
मोरे पापे लो ॥
करतिहुँ पर-उपहासे
परलिन्हु तन्हि बिधि-फाँसे
नहिं आसे लो ॥
न बूझसि अबुझ गोआरी
भजि रहु देब मुरारी
नहि गारी लो ॥
कवि विद्यापति भाने
नृप सिवसिंघ रस जाने
नव कान्हे लो ॥ ६१ ॥

विद्यापति ने इसमें अहीर और 'गोआरी' का प्रयोग कर इसे राधा-माधवपरक बना दिया है, अन्यथा इसका भाव वही है जो आजकल की 'पार'-पन्थी अथवा छायावादी कविता में प्रकट दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त विद्यापति में उस ढंग की रचना का भी आभास मिल जाता है जिसको आजकल प्रगतिवादी अथवा प्रकृतिपन्थी कविता कहते हैं। क्रान्ति का रूप देखना हो तो विद्यापति की यह कविता पढ़ें—

हम नहिं आज रहब यहि आँगन
जो बुढ़ होएत जमाई, गे माई।
एक त बइरि मेला बीध बिधाता
दोसरे धिया कर बाप।
तेसरे बइरि भेल नारद बाभन
जै बूढ़ आनल जमाई, गे माई॥
पहिलुक बाजन डामरू तोरब
दोसरे तोरब रूँडमाला।

बरद हाँकि बरिआत बेलाइन्ह
घिआले जाएब पराई, गे माई ॥
धोती लोटा पतरा पोथी
एहो सभ लेन्हि छिनाई ।
जौं किछु बजता नारद बाभन
दाढ़ी घए घिसिआएब, गे माई ॥
भन विद्यापति सुनु हे मनाइन
दढ़ करू अपन गेआन ।
सुभ सुभ कए सिरी गौरी बिआहू
गौरी हर एक समान, गे माई ॥२३५॥

जैसे तैसे शिव का अनमेल विवाह हो गया, फलतः उसका परिणाम भी यह हुआ कि उनसे बार बार आग्रह के साथ कहा गया—

बेरि बेरि अरे सिव मो तोय बोलों
फिरसि करिअ मन माय ।
बिन संक रहह भीख माँगिए पए
गुन गौरव दुर जाय ॥
निरधन जन बोलि सब उपहासए
नहिं आदर अनुकम्पा ।
तोहें सिव आक धतुर फुल पाओल
हरि पाओल फुल चम्पा ॥
खटँग काटि हर हर जे बनाबिअ
त्रिसुल तोड़िय करू फार ।
बसहा धुरन्धर हर लए जोतिअ
पाटए सुरसरि धार ॥
भन विद्यापति सुनहु महेसर
इ लागि कएलि तुअ सेवा ।

एतए जे बर से बर होअल
ओतए जाएब जनि देवा ॥२३४॥

पारिवारिक झंझट और साहित्यिक विनोद के लिए औढरदानी शिव के अतिरिक्त और हो ही कौन सकता था ? अतः इसे यहीं छोड़ इसी के साथ इतना और भी जान लें कि विद्यापति ने बाल-विवाह का उपहास भी किया है किन्तु अपने ढंग पर ही लिखते हैं—

पिया मोर बालक हम तरुनी ।
कोन तप चुकलौंह भेलौंह जननी ॥
पहिर लेल सखि एक दछिनक चीर ।
पिया के देखैत मोर दगध सरीर ॥
पिया लेली गोद कै चललि बजार ।
हटियाक लोग पूछे—के लागु तोहार ॥
नहिं मोर देवर कि नहि छोट भाइ ।
पुरुब लिखल छल बालमु हमार ॥
बाटरे बटोहिया कि तुहु मोरा भाइ ।
हमरो समाद नैहर लेने जाऊ ॥
कहिहुन बबा के किनए धेनु गाई ।
दुधवा पियाइकें पोसता जमाईं ॥
नहिं मोर टका अछि नहि धेनु गाई ।
कौनइ विधि सें पोसब जमाईं ॥
भनइ विद्यापति सुनु ब्रजनारी ।
धीरज धरह त मिलत मुरारी ॥

यदि इसमें से—

'भनइ विद्यापति सुनु ब्रजनारी ।
धीरज धरह त मिलत मुरारी ।'

को निकाल दें तो यह आजकल के रँग में अक्षरशः ढल जाती है । किन्तु यही दो

पंक्तियाँ तो ऐसी हैं जो विद्यापति की परिस्थिति तथा विद्यापति की भावना को खोलती हैं ? 'व्रजनारी' और कोई नहीं प्रौढा राधिका हैं और 'बालक पिया' भी और कोई नहीं बाल-कृष्ण हैं। बाल कृष्ण ने किस प्रकार वन में प्रौढ़ रूप धर कर राधा के साथ विहार किया इसे ब्रह्म-वैवर्त पुराण में देखिये, और इसकी कुछ झलक सूर-सागर में भी पा लीजिए तो अच्छा ही।

विविध रूपों में जो विद्यापति को देखने तथा दिखाने का श्रम किया गया है उसका कारण यह है कि हम बताना यह चाहते हैं कि विद्यापति में कोरा काम ही नहीं अपितु और भी कुछ है। और ऐसा और कुछ है जिसकी अवहेलना कर हम विद्यापति के साथ न्याय नहीं कर सकते। सच तो यह है कि विद्यापति ने अपने विषय में अपने आप ही इतना कुछ कह दिया है कि यदि हम उसी का सहारा ले उनके काव्य-क्षेत्र में उतरें और उसके विविध रसों को लें तो हम रसिक ही नहीं कुछ और भी रम्य और व्यापक रूप में अपने को पा सकते हैं। और सचमुच कह सकते हैं 'रसो वै सः'। स्मरण रहे, विद्यापति ने काम और प्रेम को कभी भी एक नहीं कहा है। उनके प्रेम की परिभाषा यह है—

आज्ञा यत्र न लङ्घ्यते न विनये वैषम्यमारोप्यते।
सद्भाव: प्रथमोत्थितो न हृदये वाच्यास्पदं नीयते॥
अन्योन्यं सुखदुःखयोः समतया यद्भुज्यते वैभवम्।
तत्प्रेम प्रिययोर्मुदे तदितरत्कन्दर्पकारागृहम्॥

—पुरुष परीक्षा, दक्षिणकथा ४।

और विद्यापति ने अपनी पदावली में इसी को प्रकट कर दिखाया है। उपनिषदों में जो 'उपस्थमेवानन्दस्य एकायनम्' कहा गया है उसी को चरितार्थ कर दिखाना विद्यापति का काम है। अद्भुत और अपूर्व के दर्शन अथवा श्रवण से उसमें जो रति उत्पन्न हो जाती है वही तो काम, और फिर वियोग की आग में तप कर अपने निखरे हुए रूप में भक्ति कि वा प्रेम का रूप धारण कर लेती है। काम-कला और भक्ति-रसायन में वस्तुतः कोई ऐसा भेद नहीं कि एक दूसरे के उत्कर्ष में बाधक ही हों। इसी से तो जयदेव का कितना सटीक कहना है—

'यद् गन्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद्वैष्णवं,
यच्छृंगारविवेकतत्त्वरचनाकाव्येषु लीलायितम् ।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः,
सानन्दं परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः ॥'

यही नहीं तो ऐसा ही कुछ विद्यापति के विषय में भी कहा जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं । 'अभिनव जयदेव' वे हैं ही, फिर सन्देह क्यों ?

विद्यापति की जीवन के विषय में विशेष रूप से इतना ही कहना है कि उनका जीवनकाल जो कम से कम १३० वर्ष ठहराया गया है वह मान्य नहीं हो सकता । कारण कि जिस 'नसरत शाह' के आधार पर श्री उमेश मिश्र जी अपनी स्थापना खड़ी करते हैं उसका ठीक ठाक पता उनको नहीं है । उस समय दिल्लीश्वर मुगल थे लोदी नहीं । 'नसरत शाह' का सम्बन्ध दिल्ली से जोड़ना ठीक नहीं । वह या तो जौनपुर का हो सकता है या बंगाल का । सो यहाँ भी ध्यान रखना है कि जौनपुर के शाहो मे कोई 'नसरत शाह' इस समय हुआ ही नहीं । रही बंगाल की बात । सो श्री विमनबिहारी मजूमदार जी ने इसे बंगाल के हुसैन शाह का पुत्र नौसरत शाह (१५१८-३१) या नासिरुद्दीन महमूद (१४२२-१४५४) का वाचक माना है । ध्यान देने की बात है कि एक ओर जहाँ 'सुमुखि समाद समादरे समदल नसिरा शाह सुरताने' में 'सुरताने' है दूसरी ओर वहीं 'नसिरा भूपति सोरमदेइपति वंसनरायन भाने' में 'भूपति' भी । किन्तु यह 'मसिरा' मिश्र जी का 'नसरत साह' ही है, इसे कौन कहे ? 'कविशेखर भन अपरुवरूप देखि राए 'नसरत साह' भजलि कमलमुखि' में 'राय' 'भूपति' का पर्याय है अथवा 'साह' का विशेषण यह भी विचारणीय है । 'वंसनराएन' १५११ में शासन कर रहे थे, अतः उनके साथ होने के कारण 'नसरत शाह' बंगाल के हुसैनशाह का पुत्र ही प्रतीत होता है जो उसके शासन में स्यात् 'राय' और 'भूपति' प्रसिद्ध था और फिर उसके निधन पर 'सुरतान' हुआ । इस प्रकार विद्यापति की निधन तिथि १५१८ के पहले तो कही नहीं जा सकती । परन्तु कहना तो यहाँ यह कि क्या विद्यापति के नाम पर जितने पद संगृहीत हैं सभी सचमुच विद्यापति ही

के हैं। हमारी धारणा तो यह है कि 'कबीर', 'सूर' और 'तुलसीदास' की भाँति ही 'विद्यापति' का नाम 'प्रतीक' सा हो गया है, पदों के आधार पर उनकी तिथि स्थिर करना तभी साधु होगा जब उनकी, खरी परीक्षा हो ले। श्री विद्यापति किस किस छाप से रचना करते थे यह भी निश्चित नहीं। श्री मजूमदार ने विद्यापति के पदों में 'भणित' पर जो विचार ज० बि० ओ० रि० सो० भाग २८ खंड ४ पृ० ४०६-४३ तक प्रस्तुत किया है वह द्रष्टव्य है। उससे इतना तो प्रकट हो जाता है कि पदों के आधार पर तिथि का निर्णय करना ठीक नहीं। अतः विद्यापति की जीवनी पर विचार करते समय उनके प्रबन्ध काव्यों तथा संस्कृत ग्रन्थों से ही विशेष सहायता लेनी चाहिये। सो, सौभाग्य से श्री मिश्र जी ने इतना लिख भी दिया है कि सन् १४५० ई० के लगभग दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' बनी होगी। जो हो, सन् १४४० में धीरसिंह जीवित थे और उनके निधन पर ही उनके अनुज भैरवसिंह सिंहासनारूढ़ हुये जिससे कहा जा सकता है कि विद्यापति सन् १४४० के उपरान्त भी जीवित रहे और 'नृपवर'- भैरवसिंह की आज्ञा से 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' की रचना कर परधाम को गये। विद्यापति की यही अन्तिम संस्कृत रचना है। यदि इसके उपरान्त भी कम से कम १५०० ई० तक विद्यापति और जीवित थे तो उन्होंने संस्कृत में कोई अन्य और रचना क्यों नहीं की, कुछ इसका भी तो विचार होना चाहिये। अस्तु, हमारा कहना है कि जब तक कोई दूसरा दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता तब तक उनका जीवनकाल इससे और आगे भी बढ़ाया नहीं जा सकता। विद्यापति की 'भूपरिक्रमा' की रचना देवसिंह की आज्ञा से हुई थी जिनका निधन सन् १४११ में हुआ था। अतः इसका रचनाकाल इसके कुछ पहले माना जा सकता है। निश्चय विद्यापति इसी काल (१४००-१४५०) के कवि हैं। उनकी कविता का काल बढ़-घट सकता है। पर ऐसा मानने में कोई हानि नहीं।

३—कबीर

सच सच कहा जाय तो कबीर जनता के हृदय मे व्यक्ति के रूप में नहीं प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हैं और यही कारण है कि आज भी कबीर के नाम पर कोई न कोई तुकबन्दी हो ही जाती है। यहाँ तक कि ठेठ में यह बात ही प्रसिद्ध हो गई है कि 'थोर बनावैं कबीरदास ढेर बनावैं कविता'। 'कविता' का प्रयोग कवि के अर्थ में स्वयं कबीर ने भी किया है और अन्य कवियों ने भी, अतएव इस पर आश्चर्य की कोई बात नहीं। अस्तु, इस कहावत का अर्थ यह हुआ कि कबीर की छाप से जो कुछ हमारे सामने आता है उसमें से अधिकांश कबीरदास की कृति नहीं। किसी न किसी 'कविता' की रचना है। व्यवहार और प्रतिदिन के काम-काज के लिये तो कवि की कविता की भाँति 'कविता' की कविताई का भी महत्त्व है और उससे अपने लक्ष्य में किसी प्रकार की बाधा भी उत्पन्न नहीं होती। किसी भी बेतुकी बात को व्यक्त करने के लिए कबीर का नाम पर्याप्त है। किन्तु तो भी यह तो हो नहीं सकता कि हम कबीर की बेतुकी बातों तक ही उनकी कृति को सीमित समझें और उस कबीर की ही झाँकी लें जो कमल-पुष्प से प्रकट हुआ और हंसों को उबारने का परवाना दे सत्य-पुरुष के रूप में सत्य-लोक में जा विराजा। आज से कुछ दिनों पहले जब कबीर की वाणी में कबीर के स्वरूप को पहिचानने का प्रयास किया जाता था तब लोग बौखला उठते थे और जो बौखलाता नहीं वह भी मुँह तो बना ही लेता था। किन्तु शोध की कृपा अथवा बुद्धि के प्रकोप से आज वह स्थिति नहीं रही। आज सभी को कबीरदास के जीवन की चिन्ता हो रही है और इधर-उधर की पुरानी पोथियों से उनका जीवन-वृत्त भी प्रस्तुत किया जा रहा है। अतएव संक्षेप मे यहाँ भी कुछ कबीर के जीवन-वृत्त पर विचार किया जाता है। कबीर के सम्बन्ध में यह तो कोई भी व्यक्ति आँख मूँद कर कह सकता है कि कबीर जुलाहा थे और कर्म से जुलाहा थे। रही जन्म की बात, सो

उसकी कुछ न पूछिये। उनके काव्य से कहीं अधिक उनका जन्म ही पहेली बन गया है। विधवा ब्राह्मणी की सतान से लेकर दिव्य-पुरुष के अवतार तक उसकी दौड़ लगी है। किन्तु धीरे धीरे विद्वानों की मंडली में यह भी माना जाने लगा है कि कबीर जन्म से भी जुलाहा थे। किन्तु विवाद की इति यहीं नहीं हो जाती। प्रश्न उठता है—किस कुल के जुलाहा थे। कहना न होगा कि जिस संस्कार की प्रेरणा से कभी कबीर विधवा-ब्राह्मणी की सन्तान माने जाते थे उसी संस्कार की पुकार से आज जुगी-जुलाहा कुल की सन्तान मानने का आग्रह हो रहा है। जुगी कुल की ओर संकेत करने का कार्य किया स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बरदत्त जी बड़थ्वाल ने, और उसका डट कर प्रतिपादन किया श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने। डाक्टर रामकुमार वर्मा भी अपने 'संत-कबीर' में इसी को ठीक समझते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बहुमत अब इसी पक्ष में है। तो भी हमारा कहना है कि यह अनुमान है प्रमाण नहीं। कबीर के जन्म के सम्बन्ध में जिस ओर से विशेष जानकारी प्राप्त हुई है उसका श्रेय भी स्वर्गीय डाक्टर बड़थ्वाल जी को दिया जा सकता है। उन्होंने ही सबसे पहले रैदास के उस कथन की ओर सकेत किया जिसमें कबीर के कुल की चर्चा है। उसके विषय में कुछ और कहने के पहले उस पद को ही देख लेना चाहिये।

हरि जपत तेऊ जनां पदम कवलास
पति तास समतुलि नहीं आन कोऊ।
एक ही एक अनेक होइ बिसथरिओ
आन रे आन भरपूरि सोऊ॥ रहाउ॥
जा कै भागवतु लेखीऐ अबरु नहीं
पेखीऐ तास की जाति आछोप छीपा॥
बिआस महि लेखीऐ सनक महि
पेखीऐ नाम की नामना सपत दीपा॥ १॥
जा कै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे-बधु
करहि मानीअहि सेख सहीद. पीरा॥

जा कै बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी
तिहू रे लोक परसिध कबीरा ॥ २ ॥
जा के कुटंब के ढेढ सभ ढोर ढोवंत
फिरहि अजहु बंनारसी आस पासा ॥
आचार सहित विप्र करहि डंडउति
तिन तनै रविदास दासान दासा ॥ ३ ॥ २ ॥
—श्रीगुरुग्रन्थसाहिब, रागु मंलार अंत ।

इस पद में रविदास ने कबीर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह शोध की आँख खोलने को पर्याप्त है तो भी हम देखते यह हैं कि लोग इस पर उतना ध्यान नहीं देते जितना वस्तुतः इस पर देना चाहिए। रविदास कहते हैं—

'जा कै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु
करहि मानीअहि सेख सहीद पीरा ॥'

आश्चर्य की बात है कि लोग इससे यह निष्कर्ष तो निकालते हैं कि कबीर मुसलमान-कुल में जनमे थे, पर यह नहीं मानते कि वह कुल कट्टर मुसलमान भी था। पता नहीं 'गोवध करहि' की गुत्थी को वे किस प्रकार सुलझाते और शेख, शहीद तथा पीर को कहाँ ले जाकर दफनाते हैं। हमारी तो पक्की धारणा है कि कबीर इसी कट्टर जुलाहा कुल में उत्पन्न हुए थे, कुछ किसी नव-मुसलिम जुगी-जुलाहा कुल में नहीं। 'जिन्द कबीर की संक्षिप्त चर्चा' शीर्षक लेख में हम इस पर अन्यत्र विचार कर चुके हैं और वह हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से 'विचार-विमर्श' के अंश में प्रकाशित भी हो चुका है। उसमें यह दिखाने की भरपूर चेष्टा की गई है कि कबीर वस्तुतः किस कुल के जीव थे, अतः इस प्रसंग में यहाँ कुछ और कहने से कोई लाभ नहीं।

जन्म की भाँति हा कबीर का जन्म-स्थान भी संशय में पड़ गया है। बनारस के पास लहरतारा की जो प्रसिद्धि थी वह तो कमल के फूल और नीमा-नीरू के पोषक होने के कारण। इसके अतिरिक्त भी दो स्थानों को कबीर की जन्म-भूमि होने का

सौभाग्य कहीं न कही मिल ही गया है। उनमें से एक तो आज़मगढ़ का बिलहरा गाँव है और दूसरा बस्ती का मगहर कसबा। 'बनारस गज़ेटियर' में बिलहरा गाँव का उल्लेख किया गया था और इस जन ने उक्त लेख में इसी को ठीक ठहराने का यत्न भी किया है। परन्तु यह तो होने न होने की बात ठहरी। बिलहर पोखर ने लहरतारा का रूप धारण किया अथवा नहीं इसे निभ्रान्त रूप से ठीक ठीक कौन कह सकता है? अतएव लीजिये अब उस मगहर को जिसका निर्देश 'पुरातत्त्व-पड़ताल-विवरण' (Reports of Archeological survey, pt. p.) में किया गया है और फिर कुछ जाँच-पड़ताल के कारण उसको अमान्य ठहरा दिया गया है। इस मगहर का फिर नाम आया कबीर-ग्रन्थावली की भूमिका में। धीरे धीरे यह भी विद्वानों में मान्य होता गया। इसका भी दृढ़ आधार मिला श्री गुरुग्रन्थसाहिब में संगृहीत कबीर की वाणी में ही। कबीर का एक पद है—

'तूँ मेरो मेरूपरबतु सुआमी
ओट गही मैं तेरी॰ ॥
ना तुम डोलहु ना हम गिरते
रखि लीनी हरि मेरी ॥ १ ॥
अब तब जब कब तुही तुही ॥
हम तुअ परसाद सुखी सदही ॥ १ ॥ रहाउ ॥
तोरे भरोसे मगहर बसिओ
मेरे तन की तपति बुझाई ॥
पहिले दरसनु मगहर पाइओ
फुनि कासी बसे आई ॥ २ ॥
जैसा मगहरू तैसी कासी
हम एकै करि जानी ॥
हम निरधन जिउ इहु धनु पाइआ
मरते फूटि गुमानी ॥ ३ ॥

करै गुमानु चुभहि तिसु सूला
को काढन कउ नाही ॥
अजै सु चोभ कउ विलल बिलाते
नरके घोर पछाही ॥ ४ ॥
कवनु नरकु किआ सुरगु बिचारा
संतन दोऊ रादे ॥
हम काहू की काणि न कढते
अपने गुर परसादे ॥ ५ ॥
अब तउ जाइ चढ़े सिंघासनि
मिले है सारिंगपानी ॥
राम कबीरा एक भए है
कोइ न सकै पछानी ॥ ६ ॥ ३ ॥
—राग रामकली ।

इस पद में जो—

'पहले दरसन मगहर पाइओ पुनि कासी बसे आई ।'

की बात कही गई है उसका अर्थ लगाया गया है मगहर में जनमने और काशी में आ बसने का। हो सकता है, परन्तु कब ? तभी न जब दर्शन पाने का अर्थ कहीं जन्मना भी होता हो। जहाँ तक संत-साहित्य की खोज हुई है और जहाँ तक देखने में आया है कहीं भी 'दर्शन पाना' का अर्थ 'जन्म ग्रहण करना' नहीं मिलता। न तो किसी वाङ्मय में और न किसी बोलचाल में ही। तो फिर यहीं इसका अर्थ 'जनमना' क्यों ग्रहण किया जाय ? हमारी दृष्टि में तो इसका संकेत कुछ और ही है। 'दर्शन पाना' का सामान्य अर्थ होता है 'साक्षात्कार करना', फलतः कबीर भी यहाँ अपने जन्म की कथा नहीं कह रहे हैं प्रत्युत कह रहे हैं अपने साक्षात्कार अथवा दिव्य-दर्शन की बात। सच तो यह है कि जिन बातों के कारण कबीर को लोग जुगी-कुल का जुलाहा मानते हैं उन बातों की पूँजी कबीर को यहीं मिली। मगहर के आस-पास

के पुराने डीह आज भी पुकार कर कहते हैं कि यह कभी महत्त्व का स्थान था और बुद्ध भगवान् ने यहीं विराग का चोला धारण किया था। कहते हैं कि कपिलवस्तु के विनष्ट हो जाने पर यही स्थान बौद्धों का विशिष्ट आश्रम बना, और यही श्रीनेत ठाकुरों के आधिपत्य के पहले थारूओं का भी अड्डा था। तो क्या बौद्ध सम्प्रदाय से निकले हुए सिद्धों और नाथों की इष्ट-भूमि यह नहीं हो सकती जहाँ सहजी कबीर को 'शून्य महल' में परम पुरुष का साक्षात्कार हुआ और यही उनकी वाणी से 'पहले दरसन मगहर पाइओ' मे फूट निकला? जो हो हमारी धारणा तो यही है कि मगहर से कबीर के जन्म का कोई सम्बन्ध नहीं और यदि है भी तो किसी द्विजन्म का ही।

कबीर को मगहर की सिद्ध-भूमि को छोड़ कर काशी में क्यो आना पड़ा, यह तो शोध की बात ठहरी। कबीर का स्वतः कहना तो यह है—

जैसा मगहर तैसी काशी हम एकै करि जानी।

इस 'एकै करि जानी' से यह तो सिद्ध नहीं होता कि 'एकै करि मानी' भी। काशी जैसी सिद्ध-विद्यापीठ को विद्या की दृष्टि से तो महत्त्व देना ही होगा—मुक्ति की दृष्टि से भले ही कबीर के लिये मगहर और काशी एक ही हो।

कबीर चाहे जहाँ कहीं, जिस किसी कुल में जनमें हो और चाहे जहाँ कहीं जिस भूमि मे गड़े वा जले हो, किन्तु सदा वे माने गए हैं काशी के ही। कबीर और 'काशी का जुलाहा' पर्याय सा हो गया है। कबीर ने कहा भी है—

सगल जनमु सिव-पुरी गँवाइआ,
मरती बार मगहरि उठि आइआ।
बहुतु बरस तप कीआ कासी
मरनु भइआ मगहर की वासी॥

—रागु गउड़ी।

काशी मे जन्म बिताने और मरती समय मगहर में उठ आने का कारण क्या था? क्या कबीर अपनी इच्छा से शिव-पुरी को छोड़ मगहर में जा पड़े थे? अथवा

यह कर दिखाने के लिये जा पहुँचे थे कि मगहर में जो मरता है उसकी भी गति हो जाती है। कहने की बात नहीं कि कहने को चाहे संत-मंडली में जो कुछ कहा जाय परन्तु प्रमाण उसके पक्ष में एक भी नहीं है। वाराणसी क्षेत्र का प्रवाद अथवा वहाँ की जन-श्रुति कहती है कि कबीर को जब इस बात का पता लगा कि उनका निधन मगहर में होगा तब हाथ-पाँव कटा कर बनारस में जम रहे, परन्तु काल बली से कब किसी की चली? काल अपना घोड़ा लेकर इनके सामने चढ़ने लगा और उसके मुँह की ओर पीठ कर उस पर बैठने लगा। भला कबीर से यह मूढ़ता कब देखी जा सकती थी? परिणाम यह हुआ कि जब कबीर घोड़े पर चढ़ने का ढंग सिखाने के लिये उसकी सहायता से घोड़े पर बैठ गए तब काल ने उन्हें उड़ा कर मगहर में जा पटका और वह वहीं के हो रहे। स्वयं कबीर को काशी छोड़ने का दुःख है। कहते हैं—

जिउ जल छोडि बाहरि भइओ मीना ॥
पूरब जनम हउ तप का हीना ॥ १ ॥
अब कहु राम कवन गति मोरी ॥
तजीले बनारस मति भई थोरी ॥ रहाउ॥
सगल जनमु सिव पुरी गवाइआ ॥
मरती बार मगहर उठि आइआ ॥ २ ॥
बहुतु बरस तपु कीआ कासी ॥
मरनु भइआ मगहर की वासी ॥ ३ ॥
कासी मगहर सम बीचारी ॥
ओछी भगति कैसे उतरसि पारी ॥ ४ ॥
कहु गुर गजि सिव सभु को जानै ॥
मुआ कबीरू रमत स्रीरामै ॥ ५ ॥

—गउड़ी।

प्रस्तुत पद से इतना तो प्रकट ही है कि कबीर बनारस का छोड़ना 'मति भई थोरी' का परिणाम समझते हैं, और परिणाम-स्वरूप तड़पते भी ऐसा हैं मानों

मीन जल से बाहर हो गया हो। तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि इसमें जो 'कासी मगहर सम बीचारी' का प्रसंग है वह कुछ उस ओर भी संकेत करता है जिसको लेकर संत-समाज में 'मगह मरे सो गदहा होय' को अन्यथा सिद्ध करने के लिए कबीर का मगहर जाना प्रसिद्ध हो गया है। अच्छा, तो 'कासी मगहर सम बीचारी' का भाव क्या है ? और क्यों इसी के उपरान्त कबीर 'ओछी भगति कैसे उतरसि पारी' का नाम लेते हैं ? अवश्य ही यदि यह पद कबीर का ही है तो इसके आधार पर कहना ही होगा कि काशी में रह कर कबीर मगहर को चाहे जो कुछ समझते रहे हों परन्तु मगहर में आकर तो उनकी समझ बदल गई और उन्होंने मुक्ति के क्षेत्र में स्थान के माहात्म्य को माना। इतना ही नहीं मगहर—सम्बन्धी जो रचना कबीर की मिलती है उसमे कबीर सूफी, साधक किंवा योगी के रूप मे कदापि हमारे सामने नहीं आते। हमारे सामने तो उस समय उसमें उनका भक्त-रूप ही आता है। तो क्या कबीर अपने अन्तिम दिनों में शुद्ध वैष्णव बन गए थे ? 'मुआ कबीरू रमत स्रीरामै' को भी टाँक लें और कृपया टाँक लें "मिले हैं सारिंगपानी" को भी।

प्रश्न उठता है कि कबीर ने काशी को क्यों छोड़ा और क्यो मरती समय मगहर को प्रस्थान किया। कुछ महानुभावों की धारणा है कि इसका मूल कारण है ब्राह्मणो का उपद्रव—'कबीर' गाना और सिकन्दर के दरबार में गुहार लगाना। परन्तु जो स्थिति को जानता और परिस्थिति को पहचानता है वह तो मान नहीं सकता कि कभी सिकन्दर जैसा कट्टर मुसलमान ब्राह्मणो की सुन सकता था और उनकी चुन चुन कर धज्जियाँ उड़ाने वाले मुसलमान जुलाहा को घोर-दड क्या यम-यातना दे सकता था। भला जिसने आकर काशी मे काशी के मन्दिरों को तोड़ा वही मन्दिर और मूर्ति के घोर विरोधी कबीर को कब गंगा मे डुबा अथवा हाथी से कुचलवा सकता था ! नहीं, इसका रहस्य भी कुछ और ही है। इसे भी देख लें। कबीर कहते हैं—

गंगा गुसाइनि गहिर गंभीरा।
जंजीर बाँधि करि खरे कबीर ॥ १ ॥

मनु न डिगै तनु काहे कउ डराइ ।
चरन कमल चितु रहिओ समाइ ॥ रहाउ ॥
गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर ।
म्रिगछाला पर बैठे कबीर ॥ २ ॥
कहि कबीर कोऊ संग न साथ ।
जल थल राखन है रघुनाथ ॥ ३ ॥१०॥१८॥
—रागु-भैरव ।

असहाय कबीर रघुनाथ की कृपा तथा गंगा के प्रसाद से किस प्रकार शासन की शृंखला से मुक्त हो गए यह तो देख लिया । अब कुछ हाथी की यातना को भी देखें—

भुजा बाँधि भिला करि डारिओ ।
हसती क्रोपि मूंड महि मारिओ ॥
हसति भागि कै चीसा मारै ।
इआ मूरति कै हउ बलिहारै ॥ १ ॥
आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोरु ।
काजी बकिबो हसती तोरु ॥ १ ॥ रहाउ ॥
रे महावत तुझु डारउ काटि ।
इसहि तुरावहु घालहु साटि ॥
हसति न तोरै धरै धिआनु ॥
वाकै रिदै बसै भगवानु ॥ २ ॥
किआ अपराध संत है कीन्हा ।
बाँधि पोट कुंचरु कउ दीन्हा ॥
कुंचरु पोट लै लै नमसकारै ।
बूझी नही काजी अंधिआरै ॥ ३ ॥
तीनि बार पतीआ भरि लीना ।
मन कठोरु अजहू न पतीना ॥

कहि कबीर हमरा गोविंदु ।
चउथे पद महि जन की जिंदु' ॥४॥१॥४॥
—रागु-गौंड ।

कबीर इस कसौटी पर भी खरे उतरे और उन्होंने साहस तथा आत्म-विश्वास के साथ खुले शब्दों में फिर काजी साहब से कहा भी कि 'कहो तो सही अब मुझे क्या मानते हो ? जन या ज़िन्द, दास वा नास्तिक ?' कबीर ने जो इस अवसर पर 'जिंदु' शब्द का प्रयोग किया है वह बड़े महत्त्व का है । उससे आप ही यह सिद्ध हो जाता है कि कबीर को यह यातना किस ओर से और क्यो मिली थी । कबीर यदि मुसलिम से ज़िन्दीक न हो जाते तो उनको यह यातना कभी नहीं मिलती । इस जिंद के बारे में हमने 'ज़िन्द कबीर की संक्षिप्त चर्चा' में कुछ और भी विचार किया है । अतः संक्षेप में बताना यहाँ यह है कि मुसलमानी मज़हब से कुछ हट जाने के कारण ही कबीर को नाना प्रकार का कष्ट सहना पड़ा और अजब नहीं कि इसी के कारण विवश हो उन्हें मगहर का वास करना पड़ा । ऐसा मानने का एक प्रबल कारण यह भी है कि कबीर पंडितों के प्रतिकूल जो कुछ कह रहे थे वह कुछ नया नहीं था । पंडित कितने दिनों से उससे अभ्यस्त थे और कभी किसी को विचारों की स्वतन्त्रता के कारण सन्तप्त, त्रस्त या नष्ट नहीं करते थे । हाँ उसको उपेक्षा की दृष्टि से अवश्य देखते थे और बहुत कुछ तुच्छ भी मानते थे । कबीर के प्रसंग में तो यह और भी संभव नहीं हो सकता, कारण कि वह मुसलमान थे और सिकन्दर लोदी जैसे धर्मान्ध के शासन मे ऐसा होना तो और भी असम्भव था ।

कबीर को और भी निकट से जानने के लिए यहाँ पर एक दूसरा पद उद्धृत किया जाता है जो भाषा की दृष्टि से भी विलक्षण है और सम्प्रदाय की दृष्टि से भी । ध्यान से देखिये—

हज्ज हमारी गोमती तीर ॥
जहा बसहि पीतंबर पीर ॥ १ ॥

वाहु वाहु किआ खूबु गावता है ॥
हरि का नामु मेरै मनि भावता है ॥ १ ॥ रहाउ
नारद सारद करहि खवासी ॥
पासि बैठी बीबी कवलादासी ॥ २ ॥
कंठे माला जिहवा रामु ॥
सहंस नाम लै लै करहु सलामु ॥ ३ ॥
कहत कबीर राम गुन गावउ ॥
हिंदू तुरक दोऊ समझावउ ॥ ४ ॥
४ ॥ १३ ॥ (रागु आसा)

इस पद में पीताम्बर, हरि का नाम, कंठी, माला आदि तो वैष्णव की ओर हमें ले जाते हैं और हज्ज, पीर, बीबी, सलामु आदि इसलाम की ओर। हमारी धारणा है कि कबीर ने जिस 'पितंबर पीर' की प्रशंसा की है वह कोई वैष्णव वेष में रहने वाला मुसलमान फकीर है जो इस रूप से अपने मत का प्रचार ठीक उसी प्रकार करना चाहता था जैसा उसके कुछ दिनों बाद 'रोमक' संन्यासी पंडित डी नोब्ली अपने मत का। भूलना न होगा कि इस प्रकार का प्रचार मुसलमानों के द्वारा भारतवर्ष में हुआ और बहुत से लोग इस प्रकार इसलाम में दीक्षित भी हो गए। बोहरे और खोजे इसी ढब से इसलाम में आए और बहुत से कोरी कुनबी भी। यदि हम पीरों की ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो देखते यह हैं कि इसी समय जौनपुर में ही एक सैयद मुहम्मद पीर थे जो महदी के अवतार माने जाते थे और जिनके 'घर की रीति' कही जाती है—

फाटा पहने टूका खायँ'
रावल देवल कहीं न जायं।
इस घर आई याही रीति,
पानी चाहें और मसीत।

तो क्या कबीर के पीताम्बर पीर ये ही थे। इनका जन्म १४४३ ईसवी में हुआ था;

और इनका निधन हुआ सन् १५०३ में। हाँ, इतना और भी जान लें कि जौनपुर का उस समय का बादशाह हुसैन शाह शर्की संगीत का बड़ा प्रेमी था और था इस महदी का अनुचर भी। कहते हैं कि इसके रूपयों से सैयद मुहम्मद महदी ने १५०० वैरागियों को अपनी ओर कर लिया था जो संग्राम भूमि में हुसैन शाह के साथ रहे।

वैरागियों से कबीर का क्या संबन्ध था इसे कोई भी कह सकता है। वैरागी रामानन्दी होते हैं और कबीर रामानन्द के शिष्य कहे जाते हैं। कुछ दिनों पहले तक कबीर सचमुच रामानन्द के शिष्य माने जाते थे। परन्तु आज शोध की कृपा से इसमें सदेह उत्पन्न हो गया है। कारण यह है कि इसका संकेत न तो कही 'कबीर-ग्रथावली' में ही मिलता है और न कहीं 'गुरु-ग्रन्थ' साहिब में ही। कहने की बात नहीं कि साहित्य के विद्वानो ने जैसे-तैसे अभी तक इन्हीं ग्रन्थों को प्रमाण की कोटि में माना है और इन्हीं को कबीर की कसौटी में रखना चाहा है। एक दूसरी भी बात यह है कि स्वामी रामानन्द का और कबीर का समय साथ साथ नहीं पड़ता। उधर हम देखते हैं कि नाभादास जैसे साधु लेखकों ने कबीरदास को रामानन्द का शिष्य ठहराया है और पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे पुनीत समीक्षक ने इसे दृढ़ सत्य भी मान लिया है। ऐसी स्थिति में संक्षेप में कुछ नहीं कहा जा सकता। और यदि कहना ही है तो यही कहना होगा कि यदि कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य नहीं थे तो न सही, किन्तु उनकी विचार-धारा से प्रभावित तो अवश्य थे। कबीर की एक साखी है जिसमें कहा गया है—

'कबीर गुर बसै बनारसी, सिव समंदां तीर।
बिसारया नही बीसरै, जे गुण होइ सरीर।'

—कबीर-ग्रन्थावली पृ० ६८।

इसमें पहले तो सामान्य बात कही गई है दूसरे यदि कोई व्यंजना ढूँढ़ी भी जाय तो वह स्वयं कबीर के पक्ष में भी पड़ सकती है और रामानंद के पक्ष में भी। निदान मानना पड़ता है कि उक्त ग्रन्थों के आधार पर कबीर के गुरु का ठीक

ठीक निर्णय हो नहीं सकता। हाँ, मानने को यह माना जा सकता है कि वह वैष्णव नहीं तो वैष्णव के साथी अवश्य थे। क्योंकि उन्होंने कई साखियों में इसीका निर्देश किया है। रामानन्दी की व्याख्या यह की गई है—

'रा' शक्तिरिति विख्याता 'म' शिवः परिकीर्त्तितः।
तदा नन्दी शान्तचित्तः प्रसन्नात्मा विचारदृक्,
सर्वत्र समरूपश्च रामानन्दी प्रकीर्त्तितः।"

कबीर इस कसौटी पर कहाँ तक ठीक उतरते हैं इसे हम कहना नहीं चाहते। हमें कहना तो यहाँ केवल इतना भर है कि हमें कबीर में भी 'रराँ' और 'ममाँ' का सूत्र मिलता है। कबीर का कहना है—

'रराँ ममाँ दोई अखिर सारा
कहै कबीर तिहूँ लोक पियारा।'
—कबीर-ग्रन्थावली, पद २८९।

कबीर का यह 'रराँ' 'ममाँ' ध्वन्यात्मक राम का परिचायक है। रामानन्द की भक्ति किस ढब की की थी इसको 'स्री सैणु' के मुँह से सुनिए—

'धूप दीप घृत साजि आरती॥
वारने जाउ कमलापती॥ १॥
मंगला हरि मंगला॥
नित मंगलु राजा राम राइ को॥ १॥ रहाउ॥
ऊतम दीअरा निरमल बाती॥
तुंही निरंजनु कमलापाती॥ २॥
रामा भगति रामानंदु जानै॥
पूरन परमानंदु बखानै॥ ३॥
मदन मूरति भै तारि गोविंदे॥
सैणु भणै भजु परमानंदे॥ ४॥ १॥
—श्रीगुरुगन्थसाहिब, रागु धनासरी।

भक्तसेन ने रामानंद के बारे में जो कुछ बताया है उसको दृष्टि में रख कर अब स्वयं 'सुआमी रामनंद' की गुरुग्रन्थ साहिब में दिये गये पद पर विचार कीजिये। उनका पद है—

'कत जाईये रे घर लागो रंगु ॥
मेरा चितु न चलै मनु भइओ पंगु ॥ १ ॥ रहाउ ॥
एक दिवस मन भई उमंग ॥
घसि चंदन चोआ बहु सुगंध ॥
पूजन चाली ब्रह्मठाइ ॥
सो ब्रह्मु बताइओ गुर मन ही माहि ॥ १ ॥
जहा जाइऐ तह जल पखान ॥
तू पूरि रहिओ है सभ समान ॥
वेद पुरान सभ देखे जोइ ॥
ऊहा तउ जाईऐ जउ ईहां न होइ ॥ २ ॥
सतिगुर मै बलिहारी तोर ॥
जिनि सकल विकल भ्रम काटे मोर ॥
रामानंद सुआमी रमत ब्रह्म ॥
गुर का सबदु काटै कोटि करम ॥ ३ ॥ १ ॥

—रागु वसंतु।

इन उभय रूपों में रामानन्द का कौन इष्ट रूप है इसकी मीमांसा में हम नहीं [प]ड़ते। जताना तो हम यह चाहते हैं कि इनमें से दूसरा रूप ही कबीर को प्रिय [है] और दूसरे रूप में भी दूसरी बात ही—अंजन के साथ निरंजन नहीं केवल [नि]रंजन। कबीर ने स्पष्ट कहा भी तो है—

केवल राम कबीर दृढ़ाया।

अथवा—

'निर्गुण राम जपो रे भाई।'

कबीर के बारे में इतना कहते ही कहीं से यह भी सुन पड़ा कि कबीर का

संस्कार ही ऐसा था। निवेदन है यह सिद्ध कैसे हो गया ? यह संस्कार सीधे सिद्धों और नाथो से प्राप्त हुआ था अथवा रामानंदी प्रसाद था। पहले के संबंध में तो यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कबीर का कुल हिन्दू-मुसलमान सिद्ध नहीं होता। कबीर जिस कुल में उत्पन्न हुये थे वह कभी नाथ पंथी जोगी था यह कैसे मान लिया जाय ? कबीर का एक पद है—

नित उठि कोरी गागरि आनै
लीपत जीउ गइओ ॥
ताना बाना कछू न सूझै
हरि हरि रस लपटिओ ॥ १ ॥
हमारे कुल कउने रामु कहिओ ॥
जब की माला लई निपूते
तब ते सुखु न भइओ ॥ रहाउ ॥
सुनहु जिठानी सुनहु दिरानी
अचरजु एकु भइओ ॥
सात सूत इनि मुडींए खोए
इहु मुडीआ किउ न मुइओ ॥ २ ॥
सरब सुखा का एकु हरि सुआमी
सो गुरि नामु दइओ ॥
संत प्रहलाद की पैज जिनि राखी
हरनाखसु नख बिदरिओ ॥ ३ ॥
घर के देव पितर की छोडी
गुर को सबदु लइओ ॥
कहत कबीर सगल पाप खंडनु
संतह लै उधरिओ ॥ ४ ॥ ४ ॥

—वही, रागु विलावलु।

इस पद का आध्यात्मिक अर्थ चाहे जो लगे पर प्राकृत अर्थ तो यही है कि

कबीर का यह वैष्णव रूप उसकी माँ को केवल खटकता ही नहीं अपितु अपने कुल की मर्यादा के प्रतिकूल भी दिखाई पड़ता है। 'हमारे कुल कउने रामु कहिओ' की गुहार पर भी तो कान देना चाहिये और उसकी कुल-कानि पर भी तो कुछ विचार करना चाहिये ? नहीं, कबीर का कुल नाथपंथी जोगी वा जुगी-कुल हो नहीं सकता, और चाहे जो हो।

कबीर के पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में इधर उधर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और अब लोग मानने भी लगे हैं कि लोई उनकी पत्नी तो थी ही एक दूसरी पत्नी भी धनिया नाम की निकल आई, जिसको लोग 'रामजनिया' कहा करते थे। और इनके पुत्र भी था जिसको लोग कमाल कहते थे—

बूड़ा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।

तो घर घर फैल चुका है। उसको और बढ़ाना यर्थ है। इसकी विशेष जानकारी के लिये इस जन का 'कबीर का जीवन वृत्त' शीर्षक लेख देखना चाहिए जो नागरी-प्रचारिणीपत्रिका संवत् १९९१ में प्रकाशित हो चुका है। साथ ही 'जिंद कबीर की संक्षिप्त चर्चा' को भी देख लें तो अच्छा ही हो।

इतनी गवेषणा के उपरान्त अब कबीर के सन-संवत के सम्बन्ध में भी कुछ कहना चाहिये। कबीर के जन्म सम्बन्ध में कबीर-पंथियों में एक दोहा प्रचलित है, जो है—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए॥

इससे प्रकट होता है कि कबीर का जन्म ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १४५५ में हुआ था। इसी प्रकार कबीर के निधन के सम्बन्ध में भी एक तिथि प्रचलित है—

संवत् पन्द्रह सै पचहत्तरा, कियो मगहर को गौनु।
माघ सुदी एकादशी, रलौ पौन में पौनु॥

इसके अनुसार माघ सुदी एकादशी संवत् १५७५ और किसी किसी की दृष्टि में संवत् १५०५ में कबीर का निधन हुआ। इसके अतिरिक्त संवत् १५४९ को भी कुछ लोग ठीक समझते हैं। कहा भी गया है—

'पन्द्रह सै उनचास में, मगहर कीनौ गौनु ।
अगहन सुदि एकादशी, मिले पौन में पौन ॥

—भक्तमाल की टीका ।

इससे गमन की तिथि तो मिलती है किन्तु इसका 'उनचास' 'पछत्तर' का और 'अगहन' 'माघ' का पर्याय हो कर आया है। दोनों में ठीक कौन है इसका उत्तर ठीक ठीक कैसे दिया जा सकता है ? इसके सम्बन्ध में एक और भी पाठ मिलता है—

सुमंत पंद्रा सौ उनहत्तरा हाई
सतगुरु चले उठ हंसा जाई ।

—धर्मदास–द्वादश पंथ ।

इसमें 'उन' 'उनचास' की ओर जाता है तो 'हत्तरा' 'पचहत्तरा' की ओर। इन तीनों का मूल तो एक ही निर्देश देता है, पर वह क्या है यह स्पष्ट नहीं होता। पंद्रह सै उनचास को मानने में एक ही बाधा उपस्थित होती है जो है सिकन्दर लोदी की। परन्तु वस्तुतः यह बाधा भी तभी हमारे सामने उपस्थित होती है जब हम यह मान लेते हैं कि काजी की ओर से कबीर को जो दंड मिला वह सिकंदर के बनारस आने पर ही। कबीर के पदों में कहीं इसका कोई निर्देश नहीं है और समझ की बात तो यह प्रतीत होती है कि यह दंड काजी की ओर से ही मिला था। इसमें सिकंदर की अनुमति थी वा प्रेरणा इससे कोई लाभ नहीं। कबीर को यह दंड मिला, यही यहाँ पर्याप्त है।

कबीर की जीवनी पर विचार करते समय एक और गड़बड़ी सामने आती है जिसका सम्बन्ध इतिहास से है। न जाने किस आधार पर भारत की पुरातत्व पड़ताल (Archeological Survey of India, New Series, North Western Provinces, Pt. 2, p. 224) में लिख दिया गया कि सन् १४५० (संवत् १५०७) में बिजली खाँ ने कबीरदास का एक रौजा बनवाया जिसका जीर्णोद्धार सन् १५६७ ईसवी में

नवाब फिदाई खाँ ने किया। हम पहले भी कह चुके हैं कि इस पड़ताल में पड़-तालो महोदय से कुछ भूल हुई थी। हम इसे भी भूल ही समझते हैं। संभव है इस स्थान का सम्बन्ध पहले किसी बौद्ध समाधि से रहा हो और किसी प्रकार यह सवत् कबीर के रौजा के साथ जुट गया हो। अथवा किसी प्रकार संवत् १५५० का सन् १४५० हो गया हो। कुछ भी हो अभी तक कहीं इस सन् की साधुता का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ तो फिर किसी पड़ताल में लिखित होने के कारण ही हम इसे इतना महत्त्व क्यों दें कि कबीर का जीवन वर्षों पीछे चला जाय और अनेक गुत्थियाँ उत्पन्न करे।

इसके विपरीत एक दूसरा पक्ष भी है। उसका कहना है कि कबीर का नाता रामानन्द से इतना जुटा चला आया है कि सहसा हम उसे तोड़ भी नहीं सकते। संत सम्प्रदाय एवं अन्यत्र भी इसका उल्लेख मिलता है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे। अतः जैसे हो तैसे कबीर को रामानन्द के निकट लाना ही चाहिये। कबीर के निधन संवत् की अपेक्षा उनके जन्म सवत् को अधिक महत्त्व देना ठीक नहीं। कारण यह कि एक तो जन्म की अपेक्षा निधन को ही लोग अधिक जानते हैं और दूसरे कबीर का जन्म कोई बहुत बड़े कुल के बालक का जन्म नहीं था कि उसको कहीं टाँक लिया जाता। कबीर के निधन का सवत् १५०५ ही ठीक है। उसे १५७५ तो किसी ने यों ही सिकन्दर लोदी से मेल मिलाने के लिये अथवा किसी अन्य कारण से कर दिया होगा। 'पिचोतर' का पछत्तर हो जाना कोई कठिन नहीं। उनके विचार में कबीर का निधन संवत् १५०५ मे हुआ और संवत् १५०७ (सन् १४५०) में उनका स्मारक बना। ऐसा मानने से यह भी सम्भव हो जाता है कि कबीर का समय रामानन्द के समय से मेल खा जाय और सम्प्रदाय की बात भी रह जाय। यही वह न्याय और यही वह प्रेरणा है जिसके कारण स्वर्गीय डाक्टर बड़थ्वाल ने १४२७ संवत् के लगभग उनका जन्म माना है, और इस प्रकार उन्होंने कबीर के जीवन से अनेक गुरुभाइयों के जीवन का नाता भी निबाह दिया है। इस प्रणाली पर इतना और भी कहा जा सकता है कि जन्म-संवत् के 'प्रकट भए' का अर्थ भक्त रूप में प्रकट होने का लिया जा सकता है। कुछ भी हो ऐसी

स्थिति में निश्चयपूर्वक कबीर के जन्म-मरण और जीवन के बारे में ठीक ठीक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, पर माना इतना अवश्य जा सकता है कि कबीर थे और अन्त में एक सिद्ध फकीर के रूप में अपना चमत्कार दिखा आँखों से ओझल हो गये और लोगों में उनके निधन पर कुछ छीन-झपट भी हो गई।

कबीर के जीवन की पूछताछ में तो कहीं से कुछ सामग्री मिल सकती है और उस पर कुछ न कुछ तर्क-वितर्क भी किया जा सकता है, परन्तु कबीर के काव्य की मीमांसा में क्या किया जाय। जिन लोगों की रचनाएँ उन्हीं के द्वारा लिपि-बद्ध हुई थीं उनमें भी क्षेपक घुस ही गया। फिर उसकी वाणी के विषय में क्या कहा जाय जो एक मुँह से निकलती और न जाने कितने कानों में किस रूप में पड़ कर किस मुख से किस रूप में निकलती और फिर देश काल के अनुसार अपना रंग बदलती रहती थी। किसी भी काव्य की कसौटी भाषा, भाव, विचार, शब्द, संकेत और छाप आदि विविध अंगों में से कोई न कोई अंग ठहराया जाता है, और फिर सभी के मेल-जोल से सार-रूप में कुछ निष्कर्ष भी निकाल लिया जाता है। उसके प्राप्त रूपों की तिथि भी काम की हो जाती है। निर्भ्रान्त सिद्धान्त न होने पर भी प्राचीनता को आश्रय दिया जाता है। कबीर की वाणी के विषयमें भी ऐसा ही हुआ। स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुंदरदास को कबीर की एक ऐसी हस्तलिखित पुरानी पोथी हाथ लगी जो पुरानी और संवत् १५६१ की लिखी हुई कही गई है। उन्होंने शीघ्र इसका प्रकाशन भी कर दिया जिससे कुछ दिनो के लिये लोगों को बड़ी प्रसन्नता भी हुई। परन्तु शोधकों की दृष्टि जब इसकी पुष्पिका पर पड़ी तब इसकी स्थिति कुछ और ही हो गई। इसकी भाषा भी निराली निकली और लोगों को इसकी खराई पर सन्देह हो गया। यह सन्देह यहाँ तक बढ़ा कि डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इसे छोड़ गुरु-ग्रन्थ-साहिब में अवतरित कबीर के वचनों को ही प्रमाण माना और इस बात की चेष्टा भी कुछ कम न की कि लोग उसीको अभी प्रमाण मानें और तब तक मानते रहें जब तक कबीर की कोई और प्रामाणिक प्रति प्राप्त नहीं हो जाती। श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब के माहात्म्य में किसी को आपत्ति नहीं, किन्तु कबीर के काव्य को उसीमे शुद्ध रूप में पाए जाने में बहुतो

को सन्देह है। इसका प्रधान कारण यह है कि गुरु-ग्रन्थ-साहिब का वर्तमान रूप उतना पुराना नहीं है जितना कि डाक्टर मोहनसिंह जी के आधार पर उक्त डाक्टर महोदय मानना चाहते हैं। यह सच है कि गुरु अर्जुनदेव (संवत् १६२०–१६६३) ने अनेक संतों की वाणी का संग्रह कराया था। किन्तु यह सच नहीं है कि आज सिक्ख मत मे गुरु-ग्रन्थ-साहिब की जो प्रतिष्ठा है वह उनके समय में भी थी। श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब को सिद्ध आसन पर बिठा देना और गुरु के स्थान पर उसी को पूज्य मानना गुरु गोविन्दसिंह का विधान है, कुछ गुरु अर्जुनदेव का प्रयत्न नहीं। कहा जाता है कि गुरु गोविन्दसिंह (सवत् १७२३–१७६५) ने लगातार ६२ घंटे तक बोलकर ४४ लेखकों की सहायता से इस अनुपम ग्रन्थ को प्रस्तुत किया और श्री मनीसिंह ने पहले पहल इसको रागों में बाँटा। यदि यह ठीक है तो मानना ही होगा कि श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब में किसी भी महात्मा की वाणी का जो रूप है वह गुरु गोविन्दसिंह की स्मृति का प्रसाद है और उसे हम गुरु अर्जुनदेव के समय की वस्तु शुद्ध दृष्टि से नहीं मान सकते। इसे तो संवत् १७६५ के पास ही की वस्तु समझना चाहिये। कारण कि उसी के लगभग गुरु गोविन्द-सिंह ने इसको लिपि-बद्ध कराया था।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि गुरुमुखी लिपि जिसमें कि गुरु ग्रन्थ साहिब लिखे गए थे उतनी पूर्ण नहीं है जितनी कि नागरी। और यह भी स्पष्ट रहे कि—

"श्री गुरु ग्रन्थ साहिब मे प्रायः अनुस्वार का प्रयोग नहीं हुवा है। जहाँ इस की आवश्यकता जान पड़े पाठक गण अपने अनुभव के अनुसार उसका उच्चारण कर सकते हैं। यथा पहले ही पृष्ठ पर दूसरी पंक्ति में "सोचै सोचि न होवई जे सोची लख बार" में 'सोची' का उच्चारण 'सोचीं' होगा। इसके और आगे 'जे लाइ रहा' में 'रहा' का उच्चारण 'रहा' है। इत्यादि।"

(श्रीगुरु-ग्रन्थ-साहिब, प्रकाशक—सर्व हिन्दसिक्ख मिशन, अमृतसर, १९२७, पाठकों से विनय।)

इस विनय से इतना तो व्यक्त ही है कि स्वयं सिक्ख-संप्रदाय में भी शब्दों का

वही रूप मूल रूप नहीं समझा जाना जो कि श्री गुरु-ग्रन्थ साहिब में लिखा वा छपा होता है। उसमें अनुस्वार की छूट है ही फिर उसी को संत कबीर की वाणी का शुद्ध रूप समझना कहाँ का न्याय है?

हाँ, तो अनुस्वार पर विशेष ध्यान देने का कारण यह है कि 'कबीर-ग्रन्थावली' में अनुस्वार की ही अधिकता है। उस आधिक्य का कारण तो कुछ बताया जा सकता है किन्तु इस अनुस्वार-लोप का कारण आँखों से ओझल कर दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्री-गुरु-ग्रन्थ-साहिब का पाठ प्रत्यक्ष ही अपने वर्तमान रूप में भाषा के क्षेत्र में प्रमाण नहीं हो सकता। अब रही पाठ के दूसरे ढंग की बात। सो इसे भी देख लें। कबीर की एक साखी है जिसे डाक्टर वर्मा ने गुरु-ग्रन्थ-साहिब के अनुसार 'सलोक' माना है। उस 'साखी' को लीजिये और देखिये क्या सचमुच वही पाठ सम्भव है। सलोक है—

'कबीर जिह मारगि पंडित गए पाछै परी बहीर।
इक अवघट घाटी राम की तिह चढ़ि रहिओ कबीर॥'

—संत कबीर, सलोक १६५।

इसी को आप इस रूप में तो देखें और फिर कहे कि शुद्ध पाठ क्या होगा। देखिये—

'जिहि मारग पंडित गए, पाछे परी बहीर।
अवघट घाटी राम की, तिह चढ़ि रहिओ कबीर।'

भला एक ही सलोक में दो स्थलों पर कबीर के आ जाने की कौन सी बात थी और 'इक' की ही कौन सी ऐसी आवश्यकता थी जिसके बिना सलोक में कोई त्रुटि आ जाती? हमारी दृष्टि में इन दोनों शब्दों का प्रयोग कोई महत्त्व नहीं रखता। अच्छा होगा, थोड़ा एक दूसरे 'सलोक' पर भी विचार कर लिया जाय। कहते हैं—

'कबीर अंबर घनहरु छाइआ बरखि भरे सरताल।
चात्रिक जिउ तरसत रहै तिन को कउनु हवालु॥'

—संत कबीर, सलोक १२४।

इसी का एक दूसरा पाठ यह है—

'राति जो सारस कुरलिआँ,
गुंजि रहे सब ताल ।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी,
तिणका कवण हवाल ॥'

—ढोला मारू री कथा, ५३

और कबीर-ग्रन्थावली में इसीका रूप यह है—

'अंबर कुंजां करलियाँ,
गरजि भरे सब ताल ।
जिनि पैं गोबिद बीछुटे,
तिनके कौण हवाल ॥' —पृष्ठ ७ ।

यहाँ भी इतना तो प्रकट ही है कि श्रीगुरु-ग्रन्थ-साहिब में कबीर ऊपर से आगया है । 'ढोला-मारू री कथा' मे भी यह दोहा लिया हुआ सा प्रतीत होता है । कारण कि उसमे जो जोड़ी की बात कही गई है वह प्रसंग की प्रेरणा से ही । प्राचीनता की दृष्टि से तो कबीर की साखी ही ठीक ठहरती है । क्योंकि कोई कारण यह नहीं दिखाई देता कि जिसकी प्रेरणा से ढोला का पद कबीर का पद बना लिया जाय । हाँ, दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध यही होता है कि साखी को ही ढोला में कुछ परिवर्तन के साथ अपना लिया गया है । गोविंद से बिछुड़ने में जो बात है वह जोड़ी के बिछुड़ने में नहीं ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि श्री गुरु ग्रन्थ-साहिब में पाठभेद है ही नहीं । उदाहरण के लिये 'हज्ज हमारी गोमती तीर' को ही ले लीजिये । डाक्टर वर्मा ने पाठ दिया है 'हज' किन्तु सिक्ख मिशन संस्करण में पाठ है 'हज्ज' सबसे बड़ी बात तो यह है कि जहाँ श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब में साखी को 'सलोक' कर दिया गया है वहीं टेक को 'रहाउ' भी । पता नही डा० वर्मा ने अक्षरशः उतारने पर भी अपने 'संत कबीर' में इसकी उपेक्षा क्यों की । क्या इस 'रहाउ' और इस 'सलोक' के कारण हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि श्री गुरु-ग्रन्थ साहिब में जो

संतों की बानी संगृहीत हुई है उसमें कुछ अपनापन भी है। हाँ, यह कहना तो भूल ही गये कि सिक्ख-मिशन संस्करण में 'सलोक' नहीं 'सलोकु' है। तो क्या इसका भी कुछ रहस्य है। जो हो, कहना तो हम यह चाहते हैं कि 'ग्रन्थावली' के सामने 'श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब' को पाठ की दृष्टि से महत्त्व देना ठीक नहीं। किसी भी दशा में 'सिउ' पाठ ठीक नहीं कहा जा सकता। उसे तो 'स्यौं' 'सैं' 'सें' की भाँति 'सिउँ' होना ही पड़ेगा और होना पड़ेगा 'हउ' को 'हउँ' शेष के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कुछ समझ लीजिये।

श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब की स्थिति इतने से ही कुछ स्पष्ट हो गई होगी। अब 'श्री कबीर-ग्रन्थावली' को भी कुछ देख लेना चाहिये। कबीर-ग्रन्थावली जिस प्राचीन प्रति पर आश्रित है वह संवत् १५६१ की कही गई है। उसकी पुष्पिका में संवत् १५६१ लिखा भी है। अचरज की बात तो यह है कि जो प्रत्यक्ष है उसको प्रमाण के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु जो यथार्थ है उसको खोलने का ध्यान ही किसी को नहीं हुआ है। प्रति की पुष्पिका में लिखावट में बड़ा भेद है। यह भेद छिपाया नहीं गया है कि उसे खोल दिखाने का अपार श्रम किया जाय। सामान्य भेद तो प्रति के 'अथ' तथा 'इति' में भी है। प्रति का आरम्भ होता है—

॥ श्री रांम जी ॥ अथ कबीर जी की वाणी लिषता ॥

और 'इति' है—

इति श्री कबीर जी का वाणी संपूरण समाप्तः ॥

'अथ' में जहाँ 'कबीरजी' हैं। 'इति' में वहाँ 'श्री कबीर जी' इसी प्रकार प्रथम पृष्ठ के 'राम १' में जहाँ 'र' पर अनुस्वार नहीं है, वहीं अन्तिम पृष्ठ के 'राम ७२' के 'रा' पर अनुस्वार है। किन्तु कोई कह नहीं सकता कि इनकी लिखावट भिन्न है। इतना तो प्रसंगवश केवल यह दिखाने के हेतु कर दिया गया है कि एक ही लिखावट में भी अनुस्वार अथवा बिन्दु का भेद हो सकता है। कुछ यह बताने के लिये नहीं कि पुष्पिका और मूल की लिखावट में कुछ भेद नहीं।

'श्री कबीर जी की वाणी' का जो अन्तिम पृष्ठ कबीर ग्रन्थावली में प्रतिबिम्बित है उस पर दृष्टि पड़ते ही यह आभास होता है कि 'रमैणी' से कुछ ढर्रा बदल

गया है और 'संपूर्ण' से तो सपूर्णं लिखावट ही कुछ और हो गई है। विद्वानों ने लिखावट की जाँच-पड़ताल करके यह निष्कर्ष निकाला है कि 'रमैणी' से लेकर 'संपूर्ण' के पहले तक की लिखावट भी वही है जो मूल की है। इसमें जो अन्तर आ गया है वह किसी और कारण से। हमारी दृष्टि में इसका मूल कारण यह है कि 'रमैणी' तक लिख लेने के उपरान्त लेखक को यह चिन्ता हुई कि यहीं श्री कबीर जी की वाणी की 'इति' हुई अथवा नहीं। इस विचार से उसने लेखनी यहीं रख दी और जब उसे पता हो गया कि उसे बस इतना ही लिखना था तब उसने 'इति श्री कबीर जी की वाणी संपूरण समाप्त:' लिख दिया। और इसे मलुकदास के हाथ में सौंप दिया। यह मलुकदास कौन हैं इसकी छानबीन होनी चाहिये। मलूकदास ने क्या किया यह भी पुष्पिका से कुछ समझ में आ सकता है। पूरी पुष्पिका है—

"सपूर्णं संवत् १५६१ लिप्यकृत्य वाणारसमध्य षेमचद पठनाथ मलुकदास बाचविचा जासू श्री रामरामछ याद्रसि पूस्तकं द्रष्ट्वा ताद्रसं लितं मया यदि शुद्धंतो वा मम दोशो न दियतां १२:"

इस पुष्पिका में तीन खंड हैं। एक तो 'संपूर्ण' से लेकर 'मलुकदास' तक, दूसरा—'बाचविचा' से 'छ' तक, और तीसरा—'याद्र' से 'दियता' तक। पहले खड पर लोगों ने ध्यान दिया है। तीसरे पर भी ध्यान दिया है, किन्तु दूसरे पर ध्यान देने की बात ही नहीं उठी। हमारी समझ में इस जाँच-पड़ताल में सबसे बड़ी भूल यही हुई है। हमारी दृष्टि में इसका अर्थ यह है कि 'बनारस मे षेमचद ने संवत् १५६१ में मलूकदास के लिए इसको लिखा। और इस दृष्टि से लिखा कि मलूकदास उसको बाँचेंगे जिससे कि श्री राम राम का प्रचार होगा।' षेमचद ने जो वाणी का आरभ 'अथ कबीर जी की वाणी' से किया था, वह अन्त मे 'इति श्री कब र जी की वाणी' में परिणत हो गया। अर्थात् उसकी दृष्टि मे श्री कबीर जी का महत्त्व बढ़ गया। इस मसिजीवी षेमचद ने जीविका की दृष्टि से इसे नहीं लिखा था। उसका लक्ष्य तो श्री राम राम का प्रचार था और यह प्रचार बाबा 'मलुकदास बचवैया' के द्वारा हो

सकता था। इसीसे उसने अपने इस श्रम को उनको समर्पित कर दिया और इसमें अपनी सिद्धि समझी। प्रतीत होता है कि पुष्पिका के अभाव अथवा स्थिति को स्पष्ट करने के विचार से मलुकदास अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने यह पुष्पिका लिख दी और इस खंड के द्वारा वस्तु-स्थिति की ओर उचित निर्देश भी कर दिया। निश्चय ही मूल की लिखावट किसी सिद्ध मसिजीवी की लेखनी का परिणाम है और पुष्पिका किसी अन्य अनभ्यासी का प्रतिफल। तृतीय खड तो परम्परा का पालन भर है। वह मूल से कितना भ्रष्ट हो चुका है इसके कहने की आवश्यकता नहीं और न यह कहने से कोई लाभ ही है कि प्रथम खंड का 'संपूर्ण' 'संपूरण' से 'संपूर्ण' हो गया। कहने की बात तो यह है कि यह पुष्पिका संवत् १५६१ में लिखी गई और वास्तव मे इसमें कोई जाल नहीं है। लिखावट को देखते ही कोई भी कह देगा कि इसमें दुराव अथवा मूल से मिलाने का कोई प्रयत्न नहीं है। होता भी क्यों ? इसकी आवश्यकता ही क्या थी और क्या कहीं यह भी दिखाया गया है कि क्यों यह लिखावट उस समय की नहीं हो सकती। हमारी अपनी धारणा तो यह है कि इसमें यों ही कोई जाल मानना ठीक नहीं है। बहुत पहले इस प्रकार के जाल होते भी नहीं थे और यदि होते भी थे तो और ही ढग के। आजकल की बात ही और है।

श्री कबीर जी की वाणी का संग्रह कब हुआ इससे यह प्रकट नहीं होता किन्तु इतना तो व्यक्त ही है कि इसका संग्रह संवत् १५६१ तक हो गया होगा। इस संग्रह के द्वारा श्री रामराम प्रचार की आवश्यकता यो पड़ी कि अब संभवतः स्वयं कबीर जी नहीं रहे और उनके अभाव में उनकी वाणी ही लोगों की पथ-प्रदर्शिका बनी। और इसका संग्रह बहुत कुछ उसी प्रेरणा से हुआ जिस प्रेरणा से श्री गुरु-ग्रन्थ साहिब का निर्माण। अस्तु, जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि इसकी लिखावट उस समय की लिखावट नहीं है तब तक हम इस जाल को, यदि किसी की दृष्टि में यह जाल है तो, जाली नहीं समझ सकते और न इस वाणी को अन्यथा ही मान सकते हैं।

'श्री कबीर जी की वाणी' में सबसे बड़ी भड़कने की बात जो विद्वानो को

मिली है, वह है इसका पछाहीं रूप, और कबीरदास कहे जाते हैं पूरब के। यह विरोध उनकी दृष्टि में इतना प्रबल था कि उनकी बुद्धि किसी प्रकार इसका समाधान नहीं कर पाती और जब यह संवत् १५६१ का पुष्पिकावाला जाल उनके सामने आया तो उनको कुछ संतोष हुआ। किन्तु क्या उसका यह अनुनासिक रूप और उसका यह पछाहीपन केवल किसी पछाहीं की करतूत का ही द्योतक है? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। पछाहीं भाषा अपभ्रंश के रूप में राष्ट्र-भाषा बन चुकी थी। कबीर के समय तक भी उसकी कहीं न कही थोड़ी बहुत रचना हो जाती थी। आजकल की नागरी और काशी के पडितों की नागरी में जैसे कुछ भेद है और जैसा कुछ भेद है साधुओं की नागरी से उसे कोई भी सुन समझ सकता है। परन्तु आज जो नहीं समझा जा रहा है वह यह है कि आज लोगों के हृदय में यह बात जम चुकी है कि लोग अपनी अपनी जन्म-भाषा मे ही रचना करते थे। अथवा उसीके द्वारा अपनी वाणी से दूसरे का कान पवित्र करते थे। पर इतिहास इसके प्रतिकूल है। भाषा-विकास के साथ साथ अपने वाङ्मय की भाषा पर ध्यान दें तो पता चले कि बहुत दिनो से देश-भाषा पर एक शिष्ट भाषा का शासन रहा है जो सदा लपित और लिखित रूपों मे अन्य भाषाओं को प्रभावित करती रही है। कबीरदास की वाणी में भी यही बात रही होगी। आज कबीर की वाणी में जिन बातों को लेकर लोग उसे सर्वथा बनावटी सिद्ध करना चाहते हैं वही 'गूजरी' और 'दक्खिनी' की रचनाओ मे भी मिल जाती हैं। स्मरण रहे, हमारा पक्ष यह नहीं है कि 'श्री कबीर जी की वाणी' मे शब्दो का जो रूप है वही कबीर जी की वाणी का शुद्ध रूप है। हमारा कथन तो इतना ही है कि स्वभावतः कबीर जी की वाणी में कुछ पछाहीं पन रहा होगा—घरेलू काम-काज के लिए नहीं, समस्त देश मे अपने राम के प्रचार के लिये ही। थे भी तो उनके राम ध्वन्यात्मक रांम ही। साखी, शब्दी और रमैणो की भाषा में थोड़ा भेद है ही। फिर साखी में ही पछाहींपन सबसे अधिक, क्यों है? शब्दी और रमैणी मे उतना क्यों नहीं? और करने की बात नही कि साखी किवा दोहा अपभ्रंश की मूल देन है। संभव है लिपिकर्ता अथवा उसके सामने की की प्रस्तुत सामग्री मे

संग्रहकर्ता के कारण भी पछाहीपन अधिक आ गया हो। कारण कि पुष्पिका में यह पछाहींपन प्रकट बोल रहा है। सिद्धों और नाथों की वाणियों में भी तो यही रंग है, फिर कबीर की वाणी में ही हम क्यों बनारसीपन ढूँढना चाहते हैं? उसको 'काशिका' की सीमा से बाहर क्यों नहीं ले जाना चाहते? अनुस्वार की अधिकता अनुनासिक अक्षरों को अनुनासिक बनाने तथा पास के अक्षर को अनुनासिक करने के कारण हो गई है। कौन जाने स्वयं कबीर की प्रवृत्ति भी ऐसी ही रही हो क्योंकि संस्कृत में अनुस्वार की प्रधानता है और साखी को 'सलोकु, के रूप में तो आप श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब मे भी देख चुके हैं—यद्यपि वहाँ अनुस्वार का वैसा ही अभाव है जैसी 'ग्रन्थावली' मे भरमार। अपभ्रंश का जो झुकाव संस्कृत की ओर हो गया था वह अनुस्वार की प्रवृत्ति को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ। और कतिपय संतों ने तो इस अनुस्वार के बल पर 'श्लोक' भी रच डाला। 'घटरामायण' मे ऐसे बहुत से श्लोक आज भी देखने को मिल जाते हैं। कहने का सारांश यह कि चलते-फिरते रमते योगियों की भाषा जैसी कुछ थी वैसी ही कबीर की भी आरम्भ में तो अवश्य रही होगी। कबीर की भाषा में पंजाबी, राजस्थानी, व्रज और पूरबी के प्रयोग ही नहीं मिलते, खड़ी बोली के रूप भी उसमें बहुत से हैं। कहीं कहीं तो वह आजकल की भाषा सी प्रतीत होती है। इसका कारण यह नहीं है कि वह प्रक्षिप्त है,? प्रत्युत यह है कि खड़ी बोली भी उस समय उसी प्रकार वर्तमान थी जैसे कि इतर बोलियाँ। सारांश यह है कि कबीर की भाषा अपने समय के समस्त आर्यावर्त की भाषा को समेट कर चलती है और सबमें प्रमुख उसी देश की भाषा रहती है जो किसी न किसी रूप में सदा से यहाँ की प्रचलित तथा शिष्ट भाषा रही है। कबीर की भाषा में ठेठ पूरबी को ढूँढ़ना और प्रचलित पश्चिमी से खार खाना भाषा के इतिहास से अनभिज्ञ होना ही है। भला कोई व्यक्ति यह बता सकता है कि इन संतों में किस संत की वाणी शुद्ध और खरी है। नहीं, संतों की वाणी सभी प्रकार से पंचों की वाणी है और उसका आदर भी सदा से पंचामृत के रूप में होता आया है। उसके सम्बन्ध में ठीक यही कहा जा सकता है कि—

दारु विचार कि करिय कोउ, वन्दिय मलय प्रसंग।

इसी को ठेठ में कहते हैं—'घी का लड्डू टेढ़ो भला।'

कबीर के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यदि किसी को असन्तोष हो तो भी इतना तो सर्वमान्य है कि कबीर का पालन-पोषण मुसलमान घर में हुआ था। अतः उनके जीवन के विकास में भी हमे पहले उनके इसी रंग को देखना चाहिये। कबीर ने स्वयं कहा है—

'तुरकी धरम बहुत हम खोजा,
बहु बजगार करैं ए बोधा॥
गाफिल गरब करैं अधिकाई,
स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥
जाकौ दूध धाइ करि पीजै,
ता माता कौ वध क्यूँ कीजै॥
लहुरैं थकैं दुहि पीया खीरो,
ताका अहमक भखै सरीरो॥
बेअकलों अकलि न जानहीं,
भूले फिरैं ए लोइ॥
दिल दरिया दीदार बिन,
भिस्त कहाँ थैं होइ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २३९।

कह नहीं सकते कि कबीर की इस गवाही—'तुरकी धरम बहुत हम खोजा' को देखते हुये भी जो लोग आग्रह के साथ कहते हैं कि कबीर को इसलाम का बहुत ऊपरी ज्ञान था वे सचमुच कहना क्या चाहते हैं। कबीर कुछ और भी तो कहते हैं। सुनिये—

मीयां तुम्ह सौ बोल्या बणि नहीं आवै।
हम मसकीन खुदाई बंदे,
तुम्हरा जस मनि भावै॥ टेक॥

अलह अवलि दीन का साहिब,
जोर नहीं फुरमाया ॥
मुरिसद पीर तुम्हारै है को,
कहौ कहाँ थैं आया ॥
रोजा करैं निवाज गुजारैं,
कलमै भिसत न होई ॥
सतरि काबे इक दिल भींतरि,
जे करि जानैं कोई ॥
खसम पिछांनि तरस करि जिय मैं,
माल मनीं करि फीकी ॥
आपा जांनि सांई कूं जांनैं,
तब है भिस्त सरीकी ॥
माटी एक भेष धरि नांनां,
सब मैं ब्रह्म समानां ॥
कहै कबीर भिस्त छिटकाई,
दोजग ही मन माना ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २५५ ।

कबीर ने इसमें अपनी ओर से जो कुछ कहा है उसको अभी अलग रखिये और देखिये यह कि कबीर को जो बात इसलाम में सबसे अधिक खटकती है वह है हिंसा। कबीर को सच पूछिये तो सबसे अधिक चिढ़ इसी हिंसा अथवा जीव-वध से है। कबीर का कहना तो अहिंसा के पक्ष में यहाँ तक है कि आप बड़ी दृढ़ता के साथ कह जाते हैं कि—

कबीर चाल्या जाइ था,
आगैं मिल्या खुदाइ ।
मींरां मुझसौं यौं कह्या,
किनि फुरमाई गाइ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ५२ ।

गो-वध के लिये कहीं कुरान में अल्लाह ने आज्ञा नहीं दी है यही कबीर का पक्ष है। कबीर भली भाँति इस तथ्य को जानते हैं और इसीसे 'मीरां' को ललकारते भी हैं। मुल्ला साहब से भ. यही कहते दिखाई देते हैं।

मुलां करि ल्यौ न्याव खुदाई।
इहि विधि जीव का भरम न जाई ॥ टेक ॥
सरजी आनैं देह बिनासै,
माटी बिसमल कीता।
जोति सरूपी हाथि न आया,
कहौ हलाल क्या कीता ॥
बेद कतेब कहौ क्यूं झूठा,
झूठा जो नि विचारै।
सब घटि एक एक करि जांनैं,
भीं दूजा करि मारै ॥
कुकड़ी मारै बकरी मारै,
हक हक करि बोलै।
सबै जीव साईं के प्यारे,
उबरहुगे किस बोलै ॥
दिल नहीं पाक पाक नहीं चीन्हां,
उसदा षोज न जांनां।
कहै कबीर भिसति छिटकाई,
दोजग ही मन मांनां ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०८।

कबीर ने कुछ समझ बूझ कर ही इतना कहने का साहस किया है कि 'वेद ग्रन्थ को झूठा क्यों कहते हो? झूठा वह जो उस पर विचार नहीं करता। बात यह है कि कुरान की मान्यता है कि जिस देश में जो पैगम्बर गया वहाँ की भाषा में उसने वहाँ के लोगों को उपदेश दिया। इसीके आधार पर कबीर यह फटकार

बताते हैं और यह दृढ़ता के साथ इनके हृदय में जमा देना चाहते हैं कि वेद को भी कुछ जानना-मानना चाहिये, और हृदय से क्रूरता का भाव निकाल कर समदर्शिता से काम लेना चाहिये। कबीर और भी खुले रूप में काजी के सामने आते हैं और डंके की चोट पर कह जाते हैं—

काजी कौन कतेब बषांनैं।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते,
गति एकै नहिं जांनैं ॥ टेक ॥
सकति से नेह पकरि करि सुनति,
यहु न बदूं रे भाई।
जौरे षुदाई तुरक मोहि करता,
तौ आपै कटि किन जाई ॥
हौं तौ तुरक किया करि सुनति,
औरति सौं क्या कहिये।
अरघ सरीरी नारि न छूटै,
आघा हिंदू रहिये ॥
छाडि कतेब रांम कहि काजी,
खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की,
काजी रहे झष मारी ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १०७।

कबीर के समय में औरत की सुन्नत होती थी अथवा नहीं इसका हमें ठीक ठीक पता नहीं। कबीर की साखी से तो प्रतीत होता है कि नहीं होती थी। आज यह सुन्नत इस देश के एक सम्प्रदाय में होती है। और प्रायः सबसे कही भी जाती है मुसलमानी। कबीर को इसमें भी अत्याचार ही दिखाई देता है। कबीर इस मुसलमानी खूनी प्रवृत्ति से इतने ऊब उठे हैं कि अब उनकी 'किताब' में श्रद्धा नहीं रही। अब वह सर्वथा राम के हो रहे और बस भक्ति की टेक पकड़ ली और

काजी अपना सा मुँह लेकर रह गया। परिणाम क्या हुआ, यह पहले ही देखा जा चुका है। कबीर पक्के भक्त बन गये। किन्तु सहसा नहीं, धीरे धीरे अपनी साधना के आधार पर। कबीर की साधना किस ढङ्ग की थी। इसकी मीमांसा में उतरने के पहले यह जान लेना चाहिये कि उनके हृदय में श्रद्धा किनके प्रति थी। भाग्यवश यह कबीर के पद से आप ही व्यक्त हो जाता है—

सब मदिमाते कोई न जाग,
ताथै संग ही चोर घर मुसन लाग ॥ टेक ॥
पंडित माते पढि पुरान,
जोगी माते धरि धियांन ॥
संन्यासी माते अहंमेव,
तपा जु माते तप के भेव ॥
जागे सुक उधव अकूर,
हणवंत जागे लै लंमूर ॥
संकर जागे चरन सेव,
कलि जागे नांमां जै देव ॥
ए अभिमान सब मन के कांम,
ए अभिमांन नहीं रहीं ठाम ॥
आतमां रांम कौ मन विश्रांम,
कहि कबीर भजि रांम नांम ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१६।

कबीर ने इस पद में जो 'जोगी माते धरि धियान' का नाम लिया है वह कुछ आश्चर्य की दृष्टि से देखा जा सकता है। इसमें जिन वैष्णवो का नाम लिया गया है उनके प्रति कबीर की भावना कभी क्या थी, तनिक इसे भी जान लें—

ता मन कौं खोजहु रे भाई,
तन छूटे मन कहाँ समाई ॥ टेक ॥
सनक सनंदन जै देवनांमां,
भगति करी मन उनहुँ न जांनां ॥

सिव बिरंचि नारद मुनि ग्यानीं,
मन की गति उनहूं नहीं जानीं ॥
ध्रू प्रहिलाद बभीषन सेषा,
तन भीतरि मन उनहुं न देषा ॥
ता मन का कोइ जानैं भेव,
रंचक लीन भया सुषदेव ॥
गोरष भरथरी गोपीचंदा,
ता मन सौं मिलि करैं अनंदा ॥
अकल निरंजन सकल सरीरा,
ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९९।

भक्तों ने भक्ति तो की पर मन की गति उन्हें नहीं मिली। मन के ज्ञाता तो गोरख, भरथरी, गोपीचन्द आदि ही हुये। कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

मन गोरख मन गोविंदौ,
मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि,
तौ आपैं करता सोइ ॥

—वही, पृ० २९।

जिस मन को कबीर ने इतना महत्त्व दिया है उसकी साधना भी तो कुछ बिकट ही होनी चाहिये। कबीर इसे भी आप ही कह जाते हैं :—

मन के मोहन बीठुला,
यहु मन लागौ तोहि रे।
चरन कंवल मन मांनियां,
और न भावै मोहि रे ॥ टेक ॥
षट दल कवल निवासिया,
चहु कौं फेरि मिलाइ रे।

दहुं कै बीच समाधिया,
तहां काल न पासै आइ रे ॥
अष्ट कंवल दल भींतरा,
तहां श्रीरंग केलि कराइ रे ।
सतगुर मिलै तो पाइये,
नहीं तौ जन्म अक्यारथ जाइ रे ॥
कदली कुसम दल भींतरा,
तहां दस आंगुल का बीच रे ।
तहां दुवादस खोजि ले,
जनम होत नहीं मींच रे ॥
बंक नालि के अंतरै,
पछिम दिसा की वाट ।
नीझर झरै रस पीजिये,
तहां भँवर गुफा के घाट रे ॥
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए,
सुरति मिलै जौ हाथि रे ।
तहां न फिरि मघ जोइये,
सनकादिक मिलि हैं साथि रे ॥
गगन गरजि मघ जोइये,
तहां दीसै तार अनंत रे ।
बिजुरी चमकि घन बरषिहै,
तहां भीजत हैं सब संत रे ॥
षोडस कंवल जब चेतिया,
तब मिलि गए श्रीबनवारि रे ।
जुरामरण भ्रम भांजिया,
पुनरपि जनम निवारि रे ॥

गुर गमि तैं पाईये,
झंषि मरे जिनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या,
सहज समाधी सोइ रे ॥

—वही, पृ० ८८।

कबीर का रम्य लोक कहाँ है, वहाँ तक जाने का मार्ग क्या है, और इस यात्रा में किस चट्टी पर किसका दर्शन होता है आदि प्रश्नों का समाधान यहीं मिल जाता है और यहीं यह भी विदित हो जाता है कि कबीर की साधना वास्तव में तान्त्रिक वैष्णव-साधना थी, वैदिक भागवत-साधना नहीं। यहाँ जो ध्यान के रूपों का निर्देश हुआ है वह इसे तान्त्रिक बौद्ध-साधना से सर्वथा बिलगा देता है और यह भी निश्चित कर देता है कि कबीर राम को लेकर उठे थे, शून्य को लेकर नहीं। कबीर का अभिमत है—

'एक जुगति एकै मिलै,
किंबा जोग कि भोग।
इन दून्यूं फल पाइये,
रांम नांम सिधि जोग रे ॥
प्रेम भगति ऐसी कीजिये,
मुख अंमृत बरिषै चंद।
आप ही आप बिचारिये,
तब केता होइ अनंद रे ॥
तुम्ह जिनि जानौ गीत है,
यहु निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया,
आतम साधन सार रे ॥
चरन कवल चित लाइये,
राम नांम गुन गाइ।

कहै कबीर संसा नहीं,
भगति मुकति गति पाइ रे ॥
—वही, पृ० ८९।

कबीर ने भक्ति और मुक्ति दोनों को एक ही साधना में कैसे समेट लिया इसकी विधि तो मिल गई और यह भी हमने जान लिया कि कबीर क्यों अपने आपको वैष्णव नहीं तो वैष्णव का साथी अवश्य कहते हैं। अब थोड़ी इसकी भी जिज्ञासा होनी चाहिये कि गोरखनाथ से इनका लगाव क्या था? गोरखनाथ को कबीर हरि-भक्त भी मानते थे। कहते हैं—

'कांमणि अंग बिरकत भया,
रत भया हरि नांइ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं,
अमर भये कवि माहि ॥'

गोरखनाथ के बारे में जो गोस्वामी तुलसीदास जी ने—

'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो भोग'

लिख दिया उसका रहस्य क्या है, इसका विचार तो फिर कभी होगा। कबीर की साखी से अभी इतना तो मान ही लेना चाहिये कि गोरख कोरे हठयोगी ही नहीं थे। नहीं, हरिनाम में भी उनकी पूरी रुचि थी। उनका इष्ट क्या था और उनकी साधना किस ढंग की थी इसका आभास इस पद से हो जाता है—

ॐ नमो सिवाइ बाबू ॐ नमो सिवाइ।
अह निसि बाइ मंत्र कौणें रे उपाइ॥
भ्यंने भ्यंने अष्यरे जे देवै रे बुझाइ,
ताका मैं चेला बाबू सो गुरू हमार ॥ टेक ॥
ॐकार आछै बाबू मूल मंत्र धारा,
ॐकार व्यापीले सकल संसारा।
ॐकार नाभी हृदै देव गुर सोई,
ॐकार साधे बिना सिधि न होई ॥ १ ॥

नादैं लीन ब्रह्म। नादैं लीना नर हरि,
नादैं लीना ऊमापती जोग ल्यौ धरि धरि।
नाद ही तौ आछै बाबू सब किछू निषांनां,
नाद ही थैं पाइये परम निरबांनां ॥ २ ॥

बाई बाजै बाई गाजै बाई धुनि करै,
बाई षट चक्र बेधै अरधैं उरधैं मधि फिरै।
सोहं बाई हंसा रूपी प्यंडै प्यंडै बहै,
बाई कै प्रसादि व्यंद गुरमुष रहै ॥ ३ ॥

मन मारै मन मरै मन तारै मन तिरै,
मन जै अस्थिर होइ तृभुवन भरै।
मन आदि मन अंत मन मधें सार,
मन ही तैं छूटै बाबू विषै विकार ॥ ४ ॥

सक्ति रूपी रज आछै सिव रूपी व्यंद,
बारह कला रव आछै सोलह कला चंद।
चारि कला रवि की जो ससि घर आवै,
तौ सिव सक्ती संमि होवै, अन्त कोई न पावै ॥ ५ ॥

एही राजा राम आछै सर्वै अंगे वासा,
ये ही पाँचौं तत बाबू सहजि प्रकासा।
ये ही पाँचौ तत बाबू समझि समांनां,
वदंत गोरष इम हरि पद जांनां ॥ ६ ॥ १२ ॥

—गोरखबानी; पृ० ९८।

गोरखनाथ की इस 'बानी' में जहाँ 'इमि हरि पद जांनां' का विधान है वहीं 'एही राजा राम आछै सर्वै अंगे वासा' का निनाद भी, इससे इतना तो सिद्ध ही है कि गोरख भी राम के भक्त थे और इस नाम की उपासना भी करते थे। इतना होने पर भी कबीर अपने आपको गोरख का अनुयायी नहीं मानते। कारण कदाचित्

यह बताना चाहते हैं कि गोरख में वह उदारता नहीं जो कि भक्त में होनी चाहिये। कहते हैं —

जोगी गोरख गोरख करै,
हिंदू रांम नांम उच्चरै ॥
मुसलमान कहै एक खुदाइ,
कबीरा को स्वामी घटि-घटि रह्यौ समाइ।

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २०० ।

कबीर ने जो यह कहा है कि 'जोगी गोरख गोरख करै' वही कबीर के अलग होने का कारण है। नाथ-परम्परा से परिचित कोई भी व्यक्ति तुरत कह सकता है कि कबीर गोरख के ऋणी ही नहीं, उन्हीं की पद्धति पर आगे बढ़ने वाले जीव हैं। फिर भी कबीर अपने को सदा गोरख से अलग ही बताते हैं। कारण प्रत्यक्ष है। कबीर किसी भी दशा में अपने इष्टदेव के अतिरिक्त किसी को कहीं भी नहीं मान सकते। और यह सह नहीं सकते कि निर्गुण राम और कबीर के बीच में कहीं कोई और भी हो। नाथ-सम्प्रदाय की मान्यता क्या थी इसे सामने रख कर देखा जाय तो कबीर की स्थिति आप ही प्रत्यक्ष हो जाती है। नाथ-संप्रदाय का कहना है—

'आदिनाथो गोरक्षनाथश्चाशाशिभावेन वा स्वयमेक एव परन्तु व्यवहारार्थमङ्गाङ्गिभावेन सेव्यसेवकभावेन नाथात्मकमेव मंगलं कृतम्।'

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ७४ ।

साथ ही इतना और भी जान लें कि—

'वामभागे स्थितः शम्भुर्यो निर्गुणस्य ब्रह्मणोऽशरूपः साकारतया संसारकल्याणार्थं जातः स शिवो वामभागे। सव्ये विष्णुस्तथैव च। याऽद्भुता निजा इच्छाशक्तिस्तस्या अंशेन जाताः। साकारः स विष्णुः संसारप्रवृत्यर्थं यस्य सव्यभागे। पुनः, मध्यभागे स्वयं पूर्णो निर्गुणसगुणातीतसर्वशिरोमणिर्नाथस्तस्य यः साकाररूपो नाथो मध्यभागे स नाथो ज्योतीरूपो मम हृदयान्धकारनिवर्त्तनं करोतु।'

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ७४ ।

गोरक्षसिद्धान्त कबीर को मान्य नहीं। कारण कि, उसमें गोरक्ष की भी बहुत कुछ वही स्थिति हो जाती है जो भक्तों में राम वा कृष्ण की है। कबीर बाह्य बातों के खंडन-मंडन और तर्क वितर्क के साथ ही साधना की पद्धति में भी गोरख के साथ हैं। शेष बातों में नहीं। कबीर की भावना और कबीर का सिद्धान्त गोरख से सर्वथा भिन्न है। कबीर भी द्वैताद्वैत विलक्षण किंवा द्वैताद्वैत विवर्जित राम को अपना इष्ट बताते हैं और अनेक पदों में उनके लोक-कल्याणी रूप का निदर्शन भी कर जाते हैं। पर भावना के क्षेत्र में ही ऐसा करते हैं। कभी खुल कर इसका प्रतिपादन नहीं करते। उनकी टेक है—

'नहीं छाड़ौं बाबा रांम नांम,
मोहि और पढ़न सूं कौन कांम ॥ टेक ॥
प्रहलाद पधारे पढन साल,
संग सखा लीयें बहुत बाल ॥
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल,
मेरी पाटी मैं लिखि दे श्री गोपाल ॥
तब संनां मुरकां कह्यौ जाइ,
प्रहिलाद बँधायौ बेगि आइ ॥
तूं राम कहन की छाड़ि बांनि,
बेगि छुड़ाऊं मेरौ कह्यौ मांनि ॥
मोहि कहा डरावै बार बार,
जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार ॥
बांधि मारि भावै देह जारि,
जे हूं रांम छाड़ौं तौ मेरे गुरहि गारि ॥
तब काढ़ि खड्ग कोप्यौ रिसाइ,
तोहि राखनहारौ मोहि बताइ ॥
खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि,
हरनाकस मारयौ नख बिदारि ॥

महापुरुष देवाधिदेव,
नरस्यंघ प्रगट कियौ भगति भेव ॥
कहै कबीर कोई लहै न पार,
प्रहिलाद ऊबारयौ अनेक बार ॥ ३७९ ॥
—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१४ ।

कबीर के इस भाव को देख कर कोई कह नहीं सकता कि कबीर अवतारवादी नहीं थे। कबीर अन्यत्र भी कहते हैं—

मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई।
जा दिन तेरो कोई नांहीं, ता दिन राम सहाई ॥ टेक ॥
तंत न जांनूं मंत न जानूं,
जांनूं सुंदर काया।
मीर मलिक छत्रपति राजा,
ते भी खाये माया ॥
बेद न जांनूं भेद न जांनूं,
जानूं एकहि रांमां।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हां,
मुख कीन्हौं जित नांमां ॥
राजा अंबरीक कै कारणि,
चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ,
भगत की सरन ऊबारै ॥ १२२ ॥
—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १२७ ।

हाँ, कबीर ने अपने जिस 'ठाकुर' का उल्लेख किया है वह ठाकुर अन्य नहीं, भक्तों का चिर-परिचित उनके उद्धार के लिये अवतारधारी अवतारी भगवान् ही है। और यही क्यों ? कबीर यह भी तो उमँग कर कहते हैं—

मेरी जिभ्या बिस्न नैंन नारांइन,
हिरदै जपौं गोबिंदा।
जंम दुवार जब लेखा मांग्या,
तब का कहिसि मुकंदा ॥ टेक ॥
तूं ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा,
चीन्हि न मोर गियाना।
तैं सब मागे भूपति राजा,
मोरे राम धियाना ॥
पूरब जनम हम ब्रांह्मन होते,
बोले करम तप हींनां।
रांमदेव की सेवा चूका,
पकरि जुलाहा कीन्हां ॥
नौंमी नेम दसमीं करि संजम,
एकादसी जागरणां।
द्वादसी दांन पुनि की बेलां,
सर्ब पाप छयौ करणां ॥
भौ बूडत कछू उपाइ करीजै,
ज्यूं तिरि लंघै तीरा।
रांम नांम लिखि भेरा बांधौ,
कहै उपदेस कबीरा ॥ २५० ॥
—वही, पृ० १७३।

कबीर का यह उपदेश भागवतों के तनिक भी प्रतिकूल नहीं दिखाई देता। फिर भी कबीर भागवत नहीं। आश्चर्य तो यह है कि कबीर और भी आगे बढ़ते हैं और अपनी भक्ति का भाव भी ठीक ठीक बता जाते हैं। कहते हैं—

कैसें तूं हरि कौ दास कहायौ,
करि बहु भेषर जनम गंवायौ ॥ टेक ॥

सुध बुध होइ भज्यौ नहिं सांईं,
　　　　काछयौ उचंभ उदर कै तांईं ॥
हिरदै कपट हरि सूं नहीं साचौ,
　　　　कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ ॥
झूठे फोकट कलू मंझारा,
　　　　रांम कहैं ते दास नियारा ॥
भगति नारदी मगन सरीरा,
　　　　इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा ॥ २७८ ॥
　　　　　　　　　　　　—वही, पृ० १८२ ।

कबीर ने भवसागर पार करने की जो विधि बताई है वह है 'नारदी भक्ति' तो क्या, सचमुच कबीर नारद के अनुयायी थे । निवेदन है; हाँ नहीं—नहीं हाँ। कारण यह कि भाव के क्षेत्र में कबीर नारद के अनुयायी हैं । विचार के क्षेत्र में उनके अनुयायी नहीं, विरोधी हैं और विरोध करते हैं उनके अवतारवाद का। उनका सहज उद्घोष है—

नां जसरथ घरि औतरि आवा,
　　　　नां लंका का राव संतावा ॥
देवै कूख न औतरि आवा,
　　　　नां जसवै ले गोद खिलावा ॥
ना वो ग्वालन कै संग फिरिया,
　　　　गोबरधन ले न कर धरिया ॥
वांवन होय नहीं बलि छलिया,
　　　　धरनीं बेद लेन उधरिया ॥
गंडक सालिग रांम न कोला,
　　　　मछ मछ ह्वै जलहि न डोला ॥
बद्री बैस्य ध्यांन नहीं लावा,
　　　　परसरांम ह्वै खत्री न संतावा ॥

द्वारामती सरीर न छाड़ा,
जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा ॥
कहै कबीर विचारि करि,
ये ऊले व्योहार ॥
याही थैं जे अगम है,
सो बरति रह्या संसारि ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० २४३ ।

कबीर ने जो व्यवहार की चर्चा छेड़ दी है वह विचारणीय है और विचारणीय है उनका यह कथन भी। कबीर अवतार को नहीं मानते, पर बात अवतार की ही कह जाते हैं। यहाँ अवतार का खंडन किया गया है और उसे व्यवहार के रूप में व्यक्त किया गया है। कबीर ने 'बेद कतेब कथैं व्यवहार' की घोषणा अन्यत्र भी की है। इसे व्यवहार मान लेने में कोई विशेष अड़चन तो तब नहीं होती जब कबीर वेदान्तियों की भाँति 'परमार्थ' और 'व्योहार' को मानते। परन्तु कबीर वेदान्ती नहीं, वेदान्त से परे हैं। तो क्या इसका भी कुछ रहस्य है? हमारी दृष्टि में कबीर का यह 'व्योहार' नाथ-संप्रदाय की देन है कुछ वेदान्त का प्रसाद नहीं।

कबीर का जो रूप सामने आया है वह कुछ विलक्षण सा बना रह जाता है। उसको सुलझाने की चेष्टा तब तक व्यर्थ जायगी जबतक हम कबीर को अपने घर की पूँजी से परखते रहेंगे। कबीर ने जो प्रसंगवश 'जांनूं सुंदर काया' का निर्देश कर दिया है वह कुछ अर्थ रखता है। उसका संकेत है सूफियों की रूप-उपासना की ओर। सूफी किस प्रकार हुस्न-मजाज़ी के द्वारा हुस्न-हकीकी का साक्षात्कार करते हैं इसको तो सभी लोग जानते हैं। पर यदि नहीं जानते तो यही कि कबीर भी इसी रूपके उपासक थे। यही क्यों? कबीर ने जो अवतार को लिया तो है पर माना नहीं, उसका भी रहस्य यहीं खुलता है। कबीर यह नहीं मानते कि परब्रह्म, निरंजन, अथवा उनका 'रांम' अवतार लेता है, पर यह मानते हैं कि वह समय समय पर उपाधि धारण कर सकता है यह और कुछ नही जीलानी की उपाधि

(लिबास)-वाद है। कहते हैं वह कभी काशी में रहा भी था और सन् १३८८ ई० में यहाँ विद्यमान था। जो हो, कबीर का अध्ययन कुछ इसलामी वेदान्त अथवा तसव्वुफ की ओर से भी होना चाहिये।

अब नारदी भक्ति को लीजिये ! नारदी भक्ति का सच्चा स्वरूप है समर्पण, विस्मरण और व्याकुलता। कहने की बात नहीं कि कबीर में ये बातें हैं। कबीर को व्याकुलता ही नहीं होती उनका विश्वास भी है कि उनका दुःख यदि कोई जानता है तो केवल राम। राम के अतिरिक्त भक्त का दुःख और कोई जान नहीं सकता फिर किसी से कुछ कहना व्यर्थ है। किन्तु वह प्रेम ही क्या जो बुद्धि के बंधन में पड़ा रहे और कातर होकर यह न बोल उठे—

'बाल्हा आव हमारे ग्रेह रे,
तुम्ह बिन दुखिया देह रे ॥ टेक ॥
सबको कहै तुम्हारी नारी,
मोकौं इहै अदेह रे ॥
एकमेक है सेज न सोवै,
तब लग कैसा नेह रे।
आन न भावै नींद न आवै,
ग्रिह बन धरै न धीर रे ॥
ज्यू कांमीं कौ काम पियारा,
ज्यूं प्यासे कूं नीर रे ॥
है कोई ऐसा पर उपगारी,
हरि सूं कहै सुनाइ रे ॥
ऐसे हाल कबीर भये हैं,
बिन देखें जीव जाइ रे ॥ ३०७ ॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १९२।

भक्त की तड़प व्यर्थ न गई। भगवान् का आना हुआ और उसकी वाणी फूट पड़ी—

'दुलहनी गावहु मंगल चार,
हम घरि आये हो राजा रांम भरतार ॥ टेक ॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ,
पंचतत बराती ।
रांमदेव मोरे पांहुनैं आये,
मैं जोवन मैंमाती ॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ,
ब्रह्मा वेद उचार ।
रांमदेव संगि भांवरि लैहूँ,
धंनि धंनि भाग हमार ॥
सुर तेतीसुं कौतिग आये,
मुनियर सहस अठयासी ।
कहै कबीर हंस ब्याहि चले हैं,
पुरिष एक अविनासी ॥ १ ॥
—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८७ ।

ब्याह तो हुआ पर किसके किये ? अपने आप ? नहीं ।
'कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां,
सखी सुहाग रांम मोहिं दीन्हां ॥ २ ॥ —वही ।

कबीर के इस सुहाग में टॉकने की बात यह है कि इसमें राम की कृपा ही सब कुछ है अपनी साधना कुछ भी नहीं । और गोरख के यहाँ साधना ही सब कुछ, कृपा कुछ भी नहीं । गोरख के राम या तो कृपण राम हैं अथवा सहस्रार के निवासी राम । जो वास्तव में और कुछ नहीं सिद्धों की ज्योति के व्यक्त रूप निरंजन राम हैं । उनमें भाव के लिये स्थान नहीं, प्रसाद से उनका नाता नहीं । कबीर उस राम के उपासक नहीं, प्रेम के पथिक हैं जो मन की साधना के लिये जोग जगाते हैं कुछ भभूत रमाने के लिये नहीं । यही कबीर का गोरख से बिलगाव है और यही कबीर की महिमा का मुख्यांश । कबीर गोरख

को लेकर आगे बढ़े, पर धीरे धीरे भाव-भजन को लेकर इतना आगे बढ़ गये कि आज बाबा गोरखनाथ बहुत पीछे छूट गये हैं और यदि समाज में कभी आते भी हैं तो 'गोरखधन्धा' 'जोगीड़ा' और 'कबीर' में ही।

कबीर और जोगीड़ा की अश्लीलता जो आजकल समझ में नहीं आती उसका कारण यह है कि हम सहजयानियों की 'सधा' भाषा से अनभिज्ञ हैं और यह नहीं जानते कि किस प्रकार यहाँ के सिद्ध इसी ढंग से अपना अध्यात्म लोगों में जगाते और अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। गोरख और कबीर ने जो उनकी प्रणाली ली तो 'कबीर' और 'जोगीड़ा' में भी वही प्रणाली आ गई। इसमें जो कबीर और गोरख का संकेत दिखाई देता है वह उनकी पवित्रता के कारण, किसी कलुषित आचरण के कारण कदापि नहीं। क्योंकि यदि जो कुछ लगाकर गाया जाता है उसके यथार्थ होने की संभावना हो तो उससे हास्य का उदय नहीं हो सकता। हँसी के लिये आलम्बन का कुछ विलक्षण होना आवश्यक होता है। यही कारण है कि ऐसे अवसरों पर ब्रह्मा, विष्णु भी नहीं बचते और लोग चुन चुनकर दिव्य पुरुषों को अपनी अश्लीलता को लक्ष्य बनाते हैं। यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि जो कबीर ने ब्रह्मा, विष्णु को हेठा दिखाया है वह भी सिद्ध-प्रेरणा के कारण ही। वज्र-यानी मूर्तियों में यह देखा जाता है कि वहाँ वज्रदेवता किसी ब्रह्मदेवता पर सवार हैं अथवा उनको अपने पैरों के नीचे दबाये हुये हैं। यही रूप किसी न किसी ढंग से कबीर में भी पाया जाता है। कबीर की वाणी में तो है ही। 'कबीर' और 'जोगीड़ा' को भी इसी परिपाटी का फल समझिये। 'कबीर' तो होली के दिनों में चारों ओर सुनाई देती है। 'जोगीड़ा' भी कहीं कहीं होता ही है और भाँड़ जब तब उसका उपयोग भी करते रहते हैं। फिर भी उसका प्रचार उतना नहीं जितना कबीर का। अच्छा होगा यहाँ 'जोगीड़ा'। का मूल रूप भी 'गोरख-बानी' मे ही देख लिया जाय। लीजिये—

मेरा गुरु तीनि छन्द गावै,
ना जानौ गुर कहाँ गैला,
मुझ नींदड़ी न आवै॥ टेक॥

कुम्हरा कै घरि हाडी आछै,
अहीरा कै घर सांडी।
बमना कै घरि रांडी आछै,
रांडी सांडी हांडी ॥ १ ॥
राजा कै घरि सेल आछै,
जंगल मधे बेल।
तेली कै घरि तेल आछै,
तेल बेल सेल ॥ २ ॥
अहीर कै घरि महकी आछै,
देवल मध्ये ल्यंग।
हाटी मधे हींग आछै,
हींग ल्यंग स्यंग ॥ ३ ॥
एकै सुत्रै नाना वणियां,
बहु भांति दिखलावै।
भणंत गोरषि त्रिगुणीं माया,
सत गुरु होइ लषावै ॥ ४ ॥ ४२ ॥
—गोरख-बानी, पृ० १३७।

कबीर की वाणी गोरख की वाणी से कितनी मिलती है इसे भी देख लें। गोरख कहते हैं—

'तत बेली लो तत बेली लो,
अवधू गोरषनाथ जांणी।
डाल न मूल पहुप नहीं छाया,
बिरधि करै बिन पाणी ॥ टेक ॥
काया कुंजर तेरी बाड़ी अवधू,
सत गुर वेलि रूपाणीं।
पुरिष पाणती करै घणियाँणौ,

नीकैं बालि घरि आंणीं ॥ १ ॥
मूल एद्दा जेद्दा ससिहर अवधू,
पांन एद्दा जेद्दा भांण ।
फल एद्दा जेद्दा पूनिम चंदा,
जोउ तोउ जांण सुजांणं ॥ २ ॥
बेलड़िया दौ लागी अवधू,
गगन पहूंती झाला ।
जिम जिम बेलीं दाझवा लागी,
तल मेल्है कूंपन डाला ॥ ३ ॥
काटत बेली कूंपल मेल्ही,
सोचतड़ां कुमलाये ।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरष बोल्या,
नित नबेलड़ी थाये ॥ ४ ॥ १७ ॥
—पृ० १०६ ।

उधर कबीर का मत है—

रांम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरषनाथि जांणीं ।
नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पांणीं ॥ टेक ॥
बेलड़िया द्वै अणीं पहूंती, गगन पहूंती सैली ।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही ॥
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंब्या, सतगुर वाही बेली ।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पांणी मेल्ही ॥
काटत बेली कूपले मेल्हीं, सींचताणी कुमिलांणीं ।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरंतर जाणीं ॥ १६२ ॥
—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १४२ ।

प्रस्तुत दोनों पदों की तुलना से यह तो विदित हो गया होगा कि कबीर की साधना पर गोरख का कितना प्रभाव है। साथ ही इतना और भी देख लें कि कबीर की उलटी गोरख की सीधी देन है। गोरख का एक पद है—

'नाथ बोलै अमृत बांणीं, बरिषैगी कंबली भीजैगा पांणीं ॥टेक॥
गाडि पडरवा बांधिले षूंटा, चलै दमांमां बाजिले ऊँटा ॥१॥
कउवा की डाली पीपल बासै, मूसा कै सबद बिलइया नासै ॥२॥
चले बटावा थाकी बाट, सोवै डुकरिया ठौरै षाट ॥३॥
ढूकिल कूकर भूकिले चोर, काढै धणीं पुकारै ढोर ॥४॥
ऊजड़ षेड़ा नगर मझारी तलि गागरि ऊपर पनिहारी ॥५॥
मगरी परि चूल्हा धूंधार, पोवणहारा कौं रोटी खाइ ॥६॥
कांमिनि जलै अगीठी तापै, बिचि बैसंदर थरहर कांपै ॥७॥
एक जु रढिया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई ॥८॥
नगरी कौ पांणीं कूंई आवै, उलटी चरचा गोरष गावै' ॥४७॥

—पृ० १४१।

इस 'सबरी' को हाथ में ले अब कबीर की उलटी में संधि लगाइये और देखिये कि वस्तुतः कबीर का वेद क्या है ! सुनिये—

'है कोई जगत गुर ग्यानीं, उलटि बेद बूझै।
पांणीं में अगनि जरै, अंधरै कौं सूझै ॥ टेक ॥
एकनि दादुरि खाये पंच भवंगा, गाइ नाहर खायौ काटि काटि अंगा ॥
बकरी बिघार खायौ, हरनि खायौ चीता।
कागिल गर फांदियां, बटेरै बाज जीता ॥
मूसै मँजार खायौ, स्यालि खायौ स्वानां।
आदि कौ आदेश करत, कहै कबीर ग्यांनां' ॥ १६० ॥

—पृ० १४१।

कबीर ने इस क्षेत्र में गोरख का अनुसरण केवल एकांत-साधना, चित्त-वृत्ति-निरोध एवं स्वस्थ शरीर ही के लिये नहीं किया। नहीं, इसका लक्ष्य कुछ और

भी था। कौन नहीं जानता कि हठयोग की साधना, कुंडलिनी का जगाना खेल नहीं। सतत अभ्यास की वस्तु है और सो भी साध्य है किसी सद्‌गुरु के सच्चे आदेश के द्वारा ही। तो भी हम देखते क्या हैं कि इस गुह्य साधना का शंख-नाद हो रहा है भोले-भाले समाज में। क्या इसका कुछ भी कारण नहीं है? क्या यह किसी का मस्त मौलापन है? क्या इसी को फक्कड़पन कहते हैं? नहीं, इसमें से एक भी नहीं। इसे या तो आप कोरी उद्धरिणी कहें या यह कि यह जनता को अपनी ओर खींचने का गूढ मन्त्र है। इसके द्वारा जनता में जो उत्सुकता उत्पन्न होगी, जो उत्कंठा जगेगी, जो श्रद्धा वक्ता की ओर मुड़ेगी वह कुछ उद्देश्य-हीन उपेक्षा की वस्तु नहीं। यही तो सिद्धों जोगियों और फलतः कबीर का भी वह मूल-मंत्र और अमोघ अस्त्र है जिससे जनता उनकी मुट्ठी में आती और कान रोप कर उनकी अद्भुत वाणी को सुनती ही नहीं, उनको सर्वदर्शी मान भी लेती थी। कबीर की यह उलटी साधना व्यक्तिगत रूप में हठयोग की साधना है किन्तु समष्टि रूप में अपनी साख रोपना भी है, कुछ साखी का ढिंढोरा पीटना मात्र ही नहीं। अच्छा हुआ जो आगे चल कर सूफियों और बहुत कुछ संतों ने भी इसे छोड़ ही दिया और भक्तों ने तो सर्वथा इसे ठुकरा ही दिया।

कबीर के कूट-पदों और अद्भुत की पर्याप्त चर्चा हो चुकी। यह कबीर का काव्य नहीं। कबीर की कविता तो उनके मधुर पदों और सरस उपदेशों में है। जहाँ 'नाद' और 'विन्दु' के चक्कर मे नहीं पड़े और अपनी सहज आकुलता को लेकर वाणी में फूट पड़े वहीं उनका हृदय काव्य के रूप में बरस पड़ा और सारा जनपद लहलहा उठा। कबीर के उपदेश भी कुछ कम चोखे नहीं उतरे। व्यंग की तो बात ही क्या? फबतियाँ भी खूब कसी हैं। बाह्याडंबर की धज्जियाँ उड़ाने में चूकते ही नहीं। प्रतीत होता है कि उनको बेधने के लिये ही वाणी मिली है। सब सही, किन्तु यह सही नहीं कि कबीर मे कहीं अहंकार नहीं था। था, और अवश्य था। परन्तु वह रह नहीं गया था, नारदी भक्ति की कृपा से, दीनबन्धु राम के प्रसाद से। कबीर में यह कहना कि काव्य नहीं है, काव्य का उपहास करना है किन्तु हठयोगी कबीर में काव्य ढूँढ़ना मूड़ मारना है। कबीर की कविता देखनी

हो तो उनके मधुर पदों को देखें। उनकी विरहिणी की पुकार को सुनें। उनकी 'दुलहिनि' के उल्लास को देखें। उनकी सती को सराहें और सब कुछ छोड़ कर देखें उनके प्रेम की अनन्यता को, जहाँ काजल के लिये कोई स्थान नहीं—

'कबीर रेख सिंदूर की काजल दिया न जाय'।

सारूप में कहा चाहें तो कबीर का कहना यह है—

'रे रे मन मोहि ब्यौरि कहि, मै तत पूछौं तोहि।
ससै सूल सबै भई, समझाई कहि मोहि॥
सुनि हंसा मैं कहूँ बिचारी, त्रिजुग जोनि सबै अंधियारी॥
मनिषा जन्म उत्तिम जौ पावा, जानूं राम तो सयान कहावा॥
नहीं चेतै तौ जनम गमावा, परयौ बिहान तब फिरि पछतावा॥
सुख करि मूल भगति जौ जांनैं, और सबै दुख या दिन आंनैं॥
अंमृत केवल रांम पियारा, और सबै बिष के भंडारा॥
हरिख आहि जो रमियैं रांमां, और सबै बिसमां के कामां॥
सार आहि संगति निरबाना, और सबै असार करि जांनां॥
अनहित आहि सकल संसारा, हित करि जानियैं रांम पियारा॥
साच सोई जे थिरह रहाई, उपजै बिनसै झूठ ह्वै जाई॥
मीठा सो जो सहजैं पावा, अति कलेस थैं करू कहावा॥
ना जरियै ना कीजै मैं मेरा, तहा अनद जहां राम निहोरा॥
मुकति सो ज आपा पर जांनैं, सो पद कहा जु भरमि भुलांनैं'॥

—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २३२।

इसी को यदि सरस संकेत में समझना हो तो कबीर के उस पद पर ध्यान दें जिसमें कहा गया है—

'चलि चलि रे भवरा कमल पास, भवरी बोलै अति उदास॥ टेक॥
तैं अनेक पुहप कौ लियौ भोग, सुख न भयौ तब बढ्यौ है रोग॥
हौ ज कहत तोसूं बार बार, मैं सब बन सोध्यौ डार डार॥
दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यौ है भूल॥

या बनासपती मैं लागैगी आगि, तब तूं जैहौ कहां भागि ॥
पहुप पुराने भये सूक, तब भवरहि लागी अधिक भूख ॥
उडयौ न जाहि बल गयौ है छूटि, तब भंवरी रूनी सीस कूटि ॥
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भवरी ले चली सिर चढ़ाइ ॥
कहै कबीर मनको सुभाव, रांम भगति बिन जम कौ डाव ॥"

—वही, पृ० ११६ ।

अन्त में कबीर की घोषणा और विवशता का जो रंग रूप गोचर होता है वह भी कुछ महत्त्व का है। कबीर का विषाद है—

'लाधा है कछू लाधा है, ताकी पारिप को न लहै ।
अबरन एक सकल अबिनासी, घटि घटि आप रहै ॥ टेक ॥
तोल न मोल माप कछु नांहीं, गिणंती ग्यांन न होई ।
नां सो भारी नां सो हलवा, ताकी पारिष लषै न कोई ॥
जामैं हम सोई हम हीं मैं, नीर मिलें जल एक हूवा ।
यौं जांणै तौ कोई न मरिहै, बिन जाणैं थैं बहुत मूवा ॥
दास कबीर प्रेम रस पाया, पीवणहार न पाऊँ ।
बिघनां वचन पिछाणत नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊँ' ॥ १६९ ॥

—वही, पृ० १४४ ।

कबीर को अपनी गहरी साधना मे जो रस मिला था, उसे कबीर बाट कर पीना चाहते थे। परन्तु उन्हें पीनेवाला नहीं मिलता था। इसका कारण यह नहीं था कि लोग उस रस को चाहते ही नहीं थे, अपितु यह था कि उसकी पहचान ही कठिन थी। कबीर जिस 'विवजित' को लेकर साधना के क्षेत्र में उतर पड़े थे और फिर उसे पार कर उससे आगे बढ़ जिस निर्गुण राम में रम गये थे वह भी इस विवर्जित से दूर नहीं था फिर वह सबका राम हो कैसे सकता था कि सब लोग मिल-जुल कर उसकी भक्ति करते। कबीर का यह राम कभी सबका राम हुआ, इसमें पूरा सन्देह है। कबीर का पन्थ चला। अनेक कबीर पन्थी हुए, पर किसी ने सचमुच कबीर के राम को पहिचाना भी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। उनके

पंथ में ही उनका निरंजन, सूफियों का नारद अथवा इसलाम का शैतान बन गया और लोगों ने न जाने कितनी 'परे को' सीढ़ियाँ निकाल लीं। कबीर का नाम तो चला, पर कबीर का राम नहीं, उसकी रट रही उसकी लगन नहीं।

हाँ, तो कबीर की जीवन-यात्रा में तीन पड़ाव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जिन्हें हम क्रम से सूफी, साधक और भक्त के रूप में पाते हैं। कबीर जन्म से मुसलमान थे, पले भी मुसलमान के घर में ही थे। मुसलमानी आडम्बर के प्रति उनके हृदय में कोई आस्था नहीं, पर मुसलमानी कदाचार के प्रति उनके हृदय में घृणा है। मुसलमानी मत में सबसे बड़ा दोष है क्रूरता, हिंसा और जीव-वध। कबीर इसी से इसको अच्छा नहीं समझते। शाक्तों के प्रति उनके हृदय में जो जुगुप्सा है उसका भी कारण यही है। यह कहना कि, कबीर ने इसलाम का भी उसी प्रकार खंडन किया है जिस प्रकार हिन्दू-मत का, ठीक नहीं। कबीर की धारणा मुहम्मदसाहब के प्रति क्या थी इसे कौन कहे? किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं कि कबीर ने मुसलमान होने के कारण ही तीर्थ-व्रत का खंडन किया। नहीं, इसका एक मुख्य कारण उनका सहज सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाना भी था। इस संप्रदाय का सहज तो उनको खूब रुचा पर उसका गहरा प्राणायाम उनको अधिक न जँचा। निदान उन्होंने काया की साधना छोड़ आत्मा की आराधना को अपनाया। और फिर तो उसमें ऐसे मग्न हुए कि सर्वथा अपने राम के हो रहे।

कबीर प्रचार करते थे पर प्रचारक नहीं थे। कबीर सुधार करते थे पर सुधारक नहीं थे। कबीर एकता चाहते थे पर समझौता के भूखे नहीं थे। तो वस्तुतः कबीर चाहते क्या थे? क्या हिन्दू-मुसलमान को एक करना। नहीं जी, ऐसी बात नहीं थी। कबीर की दृष्टि में राम-रहीम में भेद नहीं था पर कबीर कभी कुरान-पुरान को एक नहीं समझते थे। कबीर चाहते थे सदाचार और सत्य का व्यवहार, किसी जाति का नहीं; व्यक्ति का। कबीर की सब से बड़ी देन यही है कि नीच जाति के लोग भी उनके पंथ में आ जाने से शाक्त नहीं रहे, भक्त बन गये। खान पान और आचार-विचार से शुद्ध बने, मांस-मदिरा से दूर हुये। परन्तु गड़बड़ी यह हो गई कि अपने आप को सिद्ध और ज्ञानी भी झट समझ गये और

फलतः छूत-छात के शिकार भी खास हुए। कबीर किसी भेद-भाव को मिटाने में सर्वथा असमर्थ हैं और यदि समर्थ हुए तो भाव भगति दिखाने में ही। कबीर का जो रूप घर-घर फैल सका वह बेतुकी अथवा उनका उलटा रूप ही था। कबीर की उलटी जटिल थी, पर यह बताने में कितनी सरल कि उलटा रूप ही वस्तुतः कबीर का रूप है। सच है भाव बदल जाता है पर रूप भाव का मार्ग देने में समर्थ नहीं होता। चाहे कुछ भी हो, पर यह हो नहीं सकता कि कभी कबीर का नाम भुलाया जा सके। कबीर कबीर ही थे। उनकी होड़में कोई ठठ नहीं सकता। कबीर का ढंग अलग, कबीर का रंग अलग, कबीर का काव्य अलग, कबीर की भाषा अलग, कबीर का सब कुछ अलग, पर ऐसा अलग नहीं कि वह कहीं किसी का लग न सके। सच पूछो तो इसी लगालगी में कबीर का सब कुछ है। शून्य महल 'भँवर गुफा' में कदापि नहीं। कबीर की साधना निराली थी किन्तु उनका जीवन इतना घरेलू था, उनकी वाणी इतनी ठेठ कि कोई घरबारी उन्हें भूल नहीं सकता। उनकी 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' किसको नहीं भाती चाहे वह किसी भी ताने और किसी भी बाने से हो।

४—जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी के उन कवियों में हैं जिन्हें लोग जानते ही नहीं, मानते भी हैं। तो भी कहीं कहीं यह सुनने में आता है कि मलिक मुहम्मद जायसी को जो प्रतिष्ठा आज हिन्दी-साहित्य में प्राप्त है वह स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी के कारण। शुक्ल जी ने जायसी के लिए क्या कुछ किया इसको तो उनकी 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका ही बताती है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जायसी के सम्बन्ध में और शोध की आवश्यकता नहीं है और न सुचारु रूप से उनके ग्रन्थों के सम्पादन की ही। 'पदमावत' की अनेक हस्त लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं उनके आधार पर पाठ भेद के साथ 'पदमावत' का सम्पादन किया जा सकता है। फिर भी हम सरलता से यह कह सकते हैं कि जायसी का अध्ययन 'जायसी ग्रन्थावली' के आधार पर निर्द्वन्द्व किया जा सकता है। हर्ष की बात तो यह है कि जायसी ने अपने तीनों ग्रन्थों में कुछ न कुछ अपने विषय में लिख ही दिया है। 'पदमावत' और 'अखरावट' का प्रकाशन 'जायसी-ग्रन्थावली' में प्रथम संस्करण में ही हो गया था। द्वितीय संस्करण में उनका तीसरा ग्रन्थ भी प्रकाशित हो गया, जिसका नाम है 'आखिरी कलाम।' इस 'आखिरी कलाम' में जायसी ने अपने 'अवतार' के सम्बन्ध में लिखा है—

> भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी॥
> आवत उघत-चार विधि ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना॥
> धरती दीन्ह चक्र-विधि भाई। फिरै अकास रहँट कै नाई॥
> गिरि-पहार मेदिनि तस हाला। जस चाला चलनी भरि चाला॥
> मिरित-लोक ज्यों रचा हिंडोला। सरग पताल पवन खट डोला॥
> गिरि पहार परबत ढहि गए। सात समुद्र कीच मिलि भए॥
> धरती फाटि छात भहरानी। पुनि भइ मया जौ सिष्टि दिठानी॥

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३८४।

जायसी ने इसमे अपने जन्म-काल का जैसा वर्णन किया है वह इतिहास में कब घटा इसका ठीक ठीक पता अभी तक नहीं चला। यदि इस मूकंप का पता हो जाता तो जायसी का जन्म-काल ठीक-ठीक निकल आता। जायसी ने लिखने को तो लिख दिया—

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कबि बदी॥

परन्तु इसका भेद नहीं खुला कि वस्तुतः वह तिथि कौन सी थी। जहाँ तक हम दृष्टि दौड़ाते हैं हमको इसमें तीन अर्थ दिखाई देते हैं। एक तो सन् (८००।-३०) ८३०, दूसरा ९००, तीसरा (९००—३०) ८७०। इनमें से कौन सा अर्थ जायसी को इष्ट है, यह कहना कुछ कठिन है। यदि 'नौ सदी' का अर्थ ९०० लिया जाय और 'तीस बरिस ऊपर कबि बदी' का अर्थ यह लगाया जाय कि कवि ने तीस वर्ष अधिक कहा तो इसका निर्देश हुआ सन् ८७० हिजरी। और यदि 'तीस बरिस ऊपर कबि बदी' का अर्थ यह ग्रहण किया जाय कि ३० वर्ष के उपरान्त कवि कहलाया तो इसका संकेत होगा ९०० हिजरी और यदि आज कल की भाँति 'नौ सदी' का अर्थ ८०० से ९०० लगाया जाय और तीस बरिस ऊपर कवि बदी का ३० वर्ष और तो इसका अर्थ निकला सन् ८३०। जायसी ने 'पदमावत' में शेरशाह का दिल्ली के सुलतान के रूप में गुण गान किया है; जो किसी भी दशा में सन् ९४७ हिजरी के पहले का नहीं हो सकता, क्योंकि दस मुहर्रम सन् ९४७ हिजरी (१७ मई, सन् १५४० ई०) में शेरशाह ने हुमायूँ को कन्नौज के निकट हराया था और उसे राज्य-च्युत कर दिल्ली का सिंहासन हथियाया था। ऐसी स्थिति में जायसी की अवस्था बहुत लम्बी हो जाती है और 'नौ सदी' का नवीं सदी अर्थ लगाना भी ठीक नहीं जँचता। अब रही ९०० और ८७० की बात। इनमें से कोई भी ग्राह्य हो सकता है।

'आखिरी कलाम' में एक और भी सन् पाया जाता है। जायसी कहते हैं—

'नौ सै बरस छतीस जो भए। तब एहि कथा क आखर कहे॥
देखौं जगत धुंध कलि माहीं। उवत धूप धरि आवत छाहीं॥
यह संसार सपन कर लेखा। माँगत बदन न नैन भरि देखा॥"

—वही, पृ० ३८८।

इससे इतना तो सिद्ध ही है कि 'आखिरी कलाम' की रचना सन् ९३६ हिजरी में हुई। यदि जायसी का जन्म-काल ९०० माना जाय तो इस समय उनकी अवस्था ३६ वर्ष की ठहरती है जो इस वैराग्य के लिये स्वतः ठीक नहीं ठहरती। जायसी ने अपने वैराग्य के विषय में लिखा है—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नावँ आदि उदयानू॥
तहाँ दिवस दस पहुने आयउँ। भा वैराग बहुत सुख पायउँ॥
सुख भा सोचि एक दुख मानौ। ओहि बिनु जिवन मरन कै जानौं॥
नैन रूप सो गएउ समाई। रहा पूरि भर हिरदै छाई॥
जहँवैं देखौं तहँवैं सोई। और न आव दिस्टि तर कोई॥
आपुन देखि देखि मन राखौं। दूसर नाहिं, सो कासौं भाखौं॥
सबै जगत दरपन कर लेखा। आपन दरसन आपहि देखा॥
अपने कौंतुक कारन मीर पसारिन हाट।
मलिक मुहम्मद बिहनै होइ निकसिन तेहि बाट॥१०॥"

—पृ० ३८७,

जायसी के इस कथन से इतना तो सिद्ध हो जाता है कि जायसी का स्थान जायस ही था। जायस का पुराना नाम 'उदयान' था भी। जो कहीं 'विद्यानगर के रूप में भी पाया जाता है। तहाँ 'दिवस दस पहुने आयउँ' का अर्थ कहीं से आकर पाहुन के रूप में जायस में रह जाना नहीं है। नहीं, इसका अर्थ वही है, जो कबीर के चार दिन के पाहुन का—'भयौ रे मन पाहुँनड़ौ दिन चारि'।

परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि जायसी को यह वैराग्य हुआ कब? 'मलिक मुहम्मद बिहनै होइ निकसिन तेहि बाट' का भाव क्या?

जायसी ने 'अखरावट' में किसी सन् का उल्लेख नहीं किया और न किसी बादशाह की वन्दना ही की। अतएव किसी तिथि के निश्चय में उससे सीधी सहायता नहीं मिल सकती। हाँ, उसमें दो संकेत ऐसे अवश्य आये हैं जिनसे कुछ इधर उधर की ऊहा-पोह की जा सकती है। जायसी कहते हैं—

ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहै सौ मैं हारा।।
प्रेम-तंतु नित ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई।।
दरब गरब सब देइ बिथारी। गनि साथी सब लेहि सँभारी।।
पाँच भूत माँडी गनि मलई। ओहि सौ मोर न एकौ चलई।।
विधि कहँ सँवरि साज सो साजै। लेइ लेइ नावँ कूँच सौ माँजै।।
मन मुर्री देइ सब अँग मोरै। तन सो बिनै, दोउ कर जोरै।।
सूत सूत सो कया मँजाई। सीझा काम बिनत सधि पाई।।

* दोहा *

राउर आगे का कहै जो सँवरै मन लाइ।
तेहि राजा निति सँवरै, पूछै धरम बोलाइ।।

* सोरठा *

तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझै नहीं।
परै खरी तेहि चूक मुहमद जेहि जाना नहीं।।४३।।

मन सौं देइ कढ़नी दुइ गाढ़ी। गाढ़े छीर रहै होइ साढ़ी।।
ना ओहि लेखे राति, न दिना। करगह बैठि साट सो बिना।।
खरिका लाइ करै तन घीसू। नियर न होइ, डरै इबलीसू।।
भरै साँस जब नावै नरी। निसरै छूछी, पैठे भरी।।
लाइ लाइ क नरी चढ़ाई। इललिलाह कै ढारि चलाई।।
चित डोलै नहिं खूटी टरई। पल पल पेखि आग अनुसरई।।
सीधे मारग पहुँचै जाई। जो एहि भाँति करै सिधि पाई।।

* दोहा *

चलै साँस तेहि मारग, जेहि से तारन होइ।
धरै पाँव तेहि सीढ़ी, तुरतै पहुँचै सोइ।।

—पृ० ३७५।

जायसी के इस जुलाहा को कबीर के रूप में न देखना भूल होगी और भूल होगी इसके 'तिहि मुख लावा लूक' को उनकी अंतिम यातना के

रूप में न देखना। तो क्या, 'जप तप साधि सैकरा भरई' के सैकरा का आशय सौ वर्ष से है ? हो, तो भी हम जायसी के जीवन-काल को ठीक ठीक नहीं पकड़ सकते। कारण कि स्वयं कबीर का जीवन-काल सदिग्ध है और इससे यह ध्वनित भी नहीं होता कि कब ? अतः 'अखरावट' को यहीं छोड़ अब कुछ 'पदमावत' से सहायता लेनी चाहिये। 'पदमावत' में सन् का उल्लेख तो है पर विवाद-ग्रस्त। 'पदमावत' में कहा गया है—

'सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ-बैन कवि कहा॥'

—पृ० १०।

इसके अब तक तीन पाठ उपलब्ध हुये हैं सन ९२७, सन् ९४७ और सन् ९३९। इनमें से सन् ९३९ को तो कोई ठीक नहीं समझता। रहे शेष दो, सो उनमें बड़ा मतभेद है। कोई २७ को ठीक समझता है तो कोई ४७ को। ४७ के पक्ष में सबसे पुष्ट प्रमाण दिया जाता है—

'सेरसाहि देहली-सुलतान्' परन्तु इसके सम्बन्ध में भी हमें कुछ कहना है। भाग्यवश जायसी ने दो सुलतानों का वर्णन किया है—एक बाबर और दूसरा शेरशाह। शेरशाह के वर्णन में जो बात पाई जाती है वह बाबर के वर्णन में नहीं। विस्तार की दृष्टि से ही नहीं, भाव और विचार की दृष्टि से भी बाबर के विषय में जायसी का कहना है—

'बाबर साह छत्रपति राजा। राज पाट उन कहँ विधि साजा॥
मुलुक सुलेमाँ कर ओहि दीन्हा। अदल दुनी ऊमर जस कीन्हा॥
अली केर जस कीन्हेसि खाँड़ा। लीन्हेसि जगत समुद भरि डाँड़ा॥
बल हमज़ा कर जैसे सँभारा। जो बरियार उठा तेहि मारा॥
पहलवान नाए सब आदी। रहा न कतहुँ बाद करि बादी॥
बड़ परताप आप तप साधे। धरम के पंथ दई चित बाँधे॥
दरब जोरि सब काहुहि दिए। आपुन बिरह श्राद-जस लिए॥
राजा होइ करै सब छाँड़ि, जगत मँह राज।
तब अस कहैं 'मुहम्मद', वै कीन्हा किछु काज॥ ८॥

—पृ० ३८६।

इधर शेरशाह की दशा है—

'सेरसाहि देहली-सुलतानू। चारिउ खंड तपै जस भानू॥
आही छाज छात औ पाटा। सब राजै भुइँ धरा लिलाटा॥
जाति सूर औ खाँड़े सूरा। औ बुधिवंत सबै गुन पूरा॥
सूर नवाए नवखँड वई। सातउ दीप दुनी सब नई॥
तहँ लगि राज खड्ग करि लीन्हा। इसकंदर जुलकरन जो कीन्हा॥
हाथ सुलेमाँ केरि अँगूठी। जग कहँ दान दीन्ह भरि मूठी॥
औ अति गरू भूमिपति भारी। टेकि भूमि सब सिहिटि सँभारी॥
दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज।
बादसाह तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज॥ १३॥

—पृ० ६।

'दीन्ह असीस मुहम्मद' के साथ ही इतना और भी जान लें—

'सब पृथवी सीसहिं नई जोरि जोरि कै हाथ।
गग जमुन जौ लगि जल तौ लगि अम्मर नाथ॥ १५॥

—पृ० ७।

शेरशाह को जायसी ने केवल 'शाहेवक़्त' के रूप में ही नहीं देखा है। उसकी कीर्ति के वर्णन में जायसी का जो हृदय उमड़ रहा है उसका भी कुछ गूढ़ कारण होना चाहिये। 'शाहे वक़्त' की बात तो बाबर के साथ भी कही जा सकती है। फिर दोनों में इतना भेद क्यों? कवि की प्रौढ़ता ही कारण नहीं हो सकती। इसमें कुछ हृदय का लगाव और चित्त-वृत्ति का उल्लास भी है। कदाचित् यही कारण है कि जहाँ हम कवि मुहम्मद को आशीर्वाद देते हुए पाते हैं वहीं सारी प्रजा को मंगल कामना करते हुए भी। मलिक मुहम्मद जायसी की स्थिति क्या थी कि देहली सुलतान शेरशाह को स्तुति करते करते 'असीस' देने लगे। हमें यह भूलना न होगा कि शेरशाह का जन्म रज्जब ८७७ हिजरी (दिसम्बर १४७२ ई०) में हुआ था। इस दृष्टि से देखा जाय तो आयु के विचार से जायसी तभी आशीर्वाद देने के योग्य ठहरते हैं जब उनका जन्म ८७० हिजरी

मान लिया जाय। अन्यथा अवस्था की दृष्टि से उनको यह अधिकार प्राप्त नहीं।

कहा जा सकता है कि मलिक मुहम्मद जायसी सूफी फकीर थे। किसी भी अवस्था में उन्हें आशीर्वाद देने का अधिकार प्राप्त था। हो सकता है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं। बाबर के बारे में भी तो यही बात कही जा सकती है। वहाँ जायसी के द्वारा यह कार्य क्यों नहीं होता। एक बात और। कहते हैं कि जब हुमायूँ हार कर कन्नौज से भाग गया था और इधर उधर भटकता फिर रहा था तब जायस के लोग यह खबर उड़ाया करते थे कि हुमायूँ बादशाह शेरशाह पर चढ़ाई कर रहा है। तात्पर्य यह कि जायस के लोग शेरशाह के विरोधी थे। इसका कुफल यह हुआ कि शेरशाह का कोप जगा और उसने यह आज्ञा निकाल दी कि जायस को खोद कर फेंक दो। फिर क्या था, भगदड़ मची और जायस को छोड़ कर लोग इधर उधर हो रहे। इसी होने में जायसी भी अन्यों के साथ अमेठी के पास मँगरा के जंगल में पहुँच गये और उसी को अपना निवास-स्थान बना लिया। हमारी समझ में यह आता है कि जायसी इसी बिगड़ी को सुधारने के लिये दिल्ली पहुँचे थे और शेरशाह के राज्याभिषेक के अवसर पर ही उक्त आशीर्वाद दिया। ऐसा मानने का एक प्रधान कारण और भी है। शेरशाह का मानिकपुर और जौनपुर से जो लगाव था वही नहीं तो वैसा ही कुछ मलिक मुहम्मद जायसी का भी था। दोनों की प्रवृत्ति भी एक सी दिखाई देती है। यह असंभव नहीं कि दोनों का परस्पर स्नेह भी पहले से ही रहा हो, और कहते भी तो हैं कि जायसी दिल्ली गए थे। कब गये थे, इसी पर विवाद उठता है। लोग कहते हैं अकबर के समय मे। हमारा मत है शेरशाह के अभिषेक में। इस सम्बन्ध में श्री सैयद आले मुहम्मद मेहर जायसी का कथन है—

'पद्मावत' में मलिक जी ने शेरशाह सूरी की तारीफ की है। परंतु पता नहीं कि शेरशाह के दरबार में मलिक जी को पद्मावत के पेश करने का अवसर भी मिला या नहीं। अलबत्ता मीर हसन की मसनवी से साबित होता है कि अकबर के दरबार में वे पहुँचे थे—

"थे मलिक नाम मुहम्मद जायसी।
वह कि पद्मावत जिन्होंने है लिखी॥

मर्दे आरिफ़ थे वह और साहब कमाल ।
उनका अकबर ने किया दरयाफ़्त हाल ॥
हो के मुश्ताक उनको बुलवाया सिताब ।
ताकि हो सोहबत से उनकी फैज़याब ॥
साफ बातिन थे वह और मस्त अलमस्त ।
लेक दुनिया तो है यह जाहिर परस्त ॥
थे बहुत बदशक्ल और वह बदकवी ।
देखते ही उनको अकबर हँस पड़ा ॥
जो हँसा वह तो उनको देख कर ।
यों कहा अकबर को हो कर चश्मेतर ॥
हँस पड़े माटी पर ऐ तुम शहरयार ।
या कि मेरे पर हँसे बेअख़्तियार ॥
कुछ गुनह मेरा नहीं ऐ बादशाह ।
सुर्ख़ बासन तू हुआ और मैं सियाह ॥
अस्ल में माटी तो है सब एक जात ।
अख़्तियार उसका है जो है उसके हाथ ॥
सुनते ही यह हर्फ़ रोया दादगर ।
गिर पड़ा उनके कदम पर आन कर ॥
अलगरज़ उनको ब एजाज़े तमाम ।
उनके घर भिजवा दिया फिर वस्सलाम ॥
साहबे तासीर हैं जो ऐ हसन ।
दिल प करता है असर उनका सुख़न ॥"

ऊपर लिखी हुई कविता से मालूम होता है कि अकबरी दरबार से वे बड़ी इज्जत के साथ घर वापस आए । फ़रमान अकबरी ९६३ हिजरी (१५५६ ई०) जो सैयद पियारा हुसेनी रईस जायस के नाम है और जिसकी बदौलत तमाम जायस वालों को माफ़ी मिली है उसमें भी मलिक जी की कोई चर्चा नहीं है ।"

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९९७, पृ० ४४-४५ ।

मीर हसन ने अपनी मसनवी 'रिमुजुल आरिज़' की रचना सन् ११८८ हिजरी (१७७४ ई०) में की। उसमें उन्होंने मलिक मुहम्मद जायसी के विषय में जो कुछ लिखा वह 'मटियहिं हँसेसि कि कोहरहिं' की व्याख्या भर है। उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह हँसनेवाला अकबर ही था। कारण कि अकबर तो ऐसी बातों के लिये प्रतीक सा हो गया है। किसी के प्रसंग में उसके नाम का आ जाना अचरज की बात नहीं। ध्यान देने की बात है कि जायसी की किसी भी रचना में अकबर का उल्लेख नहीं। अथवा यह कहना और भी न्याय-सगत होगा कि जायसी की प्राप्त रचनाओं में कोई अकबर-कालीन नहीं। उधर हम देखते हैं कि अकबर के हाथ में शासन-सूत्र आते ही सभी जायसवालों को जो माफी मिली है उसमें मलिक मुहम्मद का कहीं नाम नहीं। तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मलिक मुहम्मद अकबर के शासन के अंतिम दिनों (९९९ हिजरी) तक जीवित रहें और कोई रचना ऐसी न करें कि जिसमें कहीं अकबर का भी नाम हो। सो भी उस अकबर का जो उन्हीं के बाबर का पौत्र और जायस का प्यारा था।

मलिक मुहम्मद जायसी की कई पुस्तकों का नाम लिया जाता है। जिनमें से 'पदमावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' तो 'जायसी ग्रन्थावली' के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु 'सखरावत', 'चम्पावत', 'मुराईनामा', 'महरानामा', 'पोस्तीनामा', जैसी पुंस्तकों की कोई पंक्ति अभी नहीं मिली। इनका नाम भी कुछ ऐसा है जिसे देख कर विश्वास नहीं होता कि ये सचमुच पुस्तक के नाम हैं। सम्भव है दो एक और 'वत', और दो एक 'नामा' सज्ञक पुस्तकें लिखी गई हों। किन्तु तोभी उचित यही जान पड़ता है कि इन पुस्तकों की रचना इन तीनों के पहले ही हुई होगी। क्योंकि इनका नाम तथा इनका विषय कुछ और ही प्रतीत होता है। यहाँ यह भी भूलना न होगा कि जायसी ने 'अखरावट' के अन्त में जहाँ यह आशा प्रकट की है कि—

'गलि सरि माटी होइ लिखनेहारा बापुरा।
जौ न मिटावै कोइ, लिखा रहै बहुतै दिना' ॥ ५३ ॥
—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३८२।

वहीं 'पदमावत' के उपसंहार में यह कामना भी—

'केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल ?।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरे दुइ बोल' ॥ २ ॥

—पृ० ३४२ ।

इतना ही नहीं, अपितु कुछ और भी—

'मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा ॥
जोरी लाइ रक्त कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई ॥
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ॥'

—पृ० ३४१ ।

आशय यह कि 'अखरावट' और 'पदमावत' को ही मलिक मुहम्मद जायसी की अंतिम रचना समझना चाहिये। इनमें भी विशेषतः 'पदमावत' को। 'अखरावट' में जो बात कही गई है वही 'पदमावत' में कर दिखाई गई है। अस्तु, हमारा कहना हुआ कि जायसी ने जो कुछ लिखा इनके पहले लिखा। क्या लिखा ? यह शोध के गर्भ में है। यदि जन-श्रुति को प्रमाण मानें तो यह मानना होगा कि उनकी अन्य पुस्तकों का सम्बन्ध किसी न किसी व्यक्ति से रहा है। 'पोस्तीनामा' के बारे में प्रसिद्ध है कि उसकी रचना अफीमचियों की हँसी उड़ाने के लिये की गई थी। जायसी के पीर शाह मुबारक बोदला स्वयं अफीमची थे। उन्होंने जायसी को 'निपूते' का शाप दिया। परिणाम यह हुआ कि उनके सात बच्चे उसी दिन छत के गिर जाने से दब मरे और पीर के प्रसाद से उनका नाम उनकी रचनाओं के द्वारा ही चला।

मलिक मुहम्मद जायसी के पीर कौन थे इसमें भी कुछ विवाद है। 'आखिरी कलाम' में कहा गया है—

'मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद असरफ़ पीर पियारा ॥
जहाँगीर चिस्ती निरमरा। कुल जग महँ दीपक बिधि धरा ॥
औ निहंग दरिया-जल माहाँ। बूड़त कहँ धरि काढ़त बाहाँ ॥
समुद माहँ जो बोहित फिरई। लेतै नावँ सौहँ होइ तरई ॥

तिन्ह घर हौं मुरीद, सो पीरू । सँवरत बिनु गुन लावै तीरू ॥
कर गहि धरम-पंथ देखरावा । गा भुलाइ तेहि मारग लावा ॥
जो अस पुरुषहि मन चित लावै । इच्छा पूजै आस तुलावै ॥
जौ चालिस दिन सेवै, बार बुहारै कोइ ।
दरसन होइ 'मुहम्मद', पाप जाइ सब धोइ' ॥ ९ ॥

—पृ० ३८७ ।

जायसी ने 'अखरावट' और 'पद्मावत' में भी इन्हीं 'सैयद असरफ पीर पियारा' को अपना पीर माना है और अपने को उनके घर का सेवक कहा है । 'अखरावट' में तो नहीं पर 'पद्मावत' में उनके वंश का भी परिचय है—

'ओहि घर रतन एक निरमरा । हाजी सेख सबै गुन भरा ॥
तेहि घर दुइ दीपक उजियारे । पंथ देइ कहँ दैव सँवारे ॥
सेख मुहम्मद पून्यो-करा । सेख कमाल जगत निरमरा ॥
दुऔ अचल ध्रुव डोलहिं नाहीं । मेरु खिखिंद तिन्हहु उपराहीं ॥
दीन्ह रूप औ जोति गोसाईं । कीन्ह खंभ दुइ जग के ताईं ॥
दुहूँ खंभ टेके सब मही । दुहुँ के भार सिहिटि थिर रही ॥
जेहि दरसे औ परसे पाया । पाप हरा, निरमल भइ काया ॥
मुहमद तेइ निचिंत पथ जेहि सँग मुरसिद पीर ।
जेहिके नाव औ खेवक बेगि लाग सो तीर ॥" १९ ॥

—पृष्ठ ९ ।

इस परिचय को भली-भाँति समझना चाहिये । कारण कि इसमें शेख मुहम्मद बोदला का नाम आया है और नाम आया है शेख कमाल का भी । परन्तु दोनों में शील और रूप के अतिरिक्त विद्या और गुण का कहीं संकेत नहीं मिलता । जायसी ने तो उनको 'दरस परस' के लिए ही चुना है और उनको इसी हेतु सेव्य समझा है कि वे 'सैयद असरफ पीर पियारा' के घर हैं ।

जायसी ने इसकी ओर भी संकेत कर दिया है जिस पर उचित ध्यान न देने के कारण उनकी पीर-परम्परा में गड़बड़ी हो गई है और किसी किसी ने तो गुरु

परम्परा को पीर-परम्परा का ही अंग मान लिया है। जायसी की गुरु-परम्परा यह है—

> गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा ॥
> अगुवा भयउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ महि दीन्ह गियानू ॥
> अलहदाद भल तेहि कर गुरू। दीन दुनी रोसन सुरखुरू ॥
> सैयद मुहम्मद कै वै चेला। सिद्ध-पुरुष-संगम जेहि खेला ॥
> दानियाल गुरु पंथ लखाये। हजरत ख्वाज खिजिर तेहि पाए ॥
> भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे। लिये मेरइ जहँ सैयद राजे ॥
> ओहि सेवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ, प्रेम कवि बरनी ॥
> वै सुगुरू, हौं चेला, नित बिनवौ भा चेर।
> उन्ह हुत देखे पायउँ, दरस गोसाईं केर ॥ २० ॥

—पृष्ठ ९।

कुछ हेर-फेर के साथ यही बात 'अखरावट' में भी कही गई है। हाँ, उसमें विशेषता यह अवश्य है कि शेख बुरहान को कालपी नगर का बताया गया है। कहते हैं—

> 'पा-पाएउँ गुरु मोहदी मीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा ॥
> नावँ पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु-थानू ॥'

—पृष्ठ ३६४।

'पदमावत' में जो कहा गया है—

> 'ओहि सेवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ, प्रेम कवि बरनी।'

उससे प्रकट है कि जायसी को काव्य की शिक्षा किस घरसे मिली थी, 'अगुवा भयउ सेख बुरहानू' से ध्वनित तो यह होता है कि शेख बुरहान के द्वारा गुरु मोहदी (मुहीउद्दीन) का सत्संग प्राप्त हुआ था। शेख बुरहान हिन्दी में कविता करते थे। कुछ भी हो, जायसी के आधार पर निर्विवाद कहा जा सकता है कि जायसी के शिक्षा-गुरु कालपी के थे तो दीक्षा-गुरु जायस के। पर जायस के कौन थे इसमें विवाद है। मखदूम सैयद असरफ जहाँगीर का निधन सन् ८०८ हिजरी (१४०६

ई०) में हो चुका था, अतः जायसी का मुरशिद उनको कहा नहीं जा सकता। शेख हाजी का निधन सन ९०६ हिजरी (१५०० ई०) में हुआ और उनके वंशज शाह जमाल की मृत्यु उनके पहले ही हो चुकी थी। उनके पुत्र शेख मुबारक का अन्त सन ९७४ (१५६६ ई०) और शेख कमाल का अन्त सन ९८४ (१५७६ ई०) में हुआ। प्रतीत होता है कि जायसी ने जो अपने दीक्षा-गुरु का स्पष्ट निर्देश न कर उस घर का ही उद्घोष किया है इसका कारण यही है कि उस समय उस घर में कोई मुरशिद होने के योग्य न था। उन्होंने उस घर की सेवा सैयद असरफ जहाँगीर के नाते की। जो हो, जायसी के मुँह से इसका निर्णय नहीं होता कि वस्तुतः उनका दीक्षा-गुरु कौन था।

जायसी ने अपने मित्रों का भी परिचय दिया है किन्तु केवल 'पदमावत' में ही :—

'चारि मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सिर पहुँचाए॥
यूसुफ़ मलिक पंडित बहु ज्ञानी। पहिलै भेद-बात वै जानी॥
पुनि सलार कादिम मतिमाहाँ। खाँड़े-दान उभै निति बाँहा॥
मियाँ सलोने सिँघ बरियारू। बीर खेतरन खड़्ग जुझारू॥
सेख बड़े, बड़ सिद्ध बखाना। किए आदेस सिद्ध बड़ माना॥
चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े। औ सँजोग गोसाईं गढ़े॥
बिरिछ होइ जौ चन्दन पासा। चन्दन होइ बेधि तेहि बासा॥
मुहमद चारिउ मीत मिलि भए जो एकै चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा, ओहि जग बिछुरन कित्त॥ २२॥

—पृष्ठ १०।

मलिक मुहम्मद जायसी ने इनका नाम और इनकी विशेषता तो दी किन्तु इनके घर-बार और स्थान के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। जायस के लोग इनको वहीं का मानते हैं।

सबसे विचित्र बात यह है कि जायसी ने अपने कुल के सम्बन्ध में कहीं कुछ नहीं कहा है। अपने विषय में इतना अवश्य लिखा है—

'एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी।
चाँद जैसे जग बिधि औतारा। दीन्ह कलंक, कीन्ह उजियारा॥'
—पृ० ९।

एवं—
'एक नयन जस दरपन औ निरमल तेहि भाउ।
सब रुपवंतइ पाउँ गहि मुख जोहहिं कै चाउ'॥२१॥ —पृष्ठ १०।

कहते हैं कि मलिक मुहम्मद जायसी को बचपन में ही अर्धांग हो गया था, जिससे उनका रूप बिगड़ गया था—

'मुहमद बाईं दिसि तजा, एक सरवन, एक आँखि।'

से सिद्ध होता है कि उनका बायाँ अंग झूल गया था। उनका दायाँ अंग ही ठीक रह गया था। कुछ लोगों का कहना है कि बचपन में शीतला के कारण उनकी यह दशा हुई थी। जो हो, उनको बिकलांग होने में किसी को आपत्ति नहीं।

जायसी के निधन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब आप मँगरा के वन में 'सुमिरन' में लगे हुए थे तब किसी बहेलिया की गोली से शहीद हुये। उसने भूल से इनकी ध्वनि को शेर की ध्वनि समझ कर इन्हें निशाना बनाया। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने पहले से ही कह दिया था कि इनका बध उसीके हाथ से होगा। इनके बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि इनके आशीर्वाद से ही अमेठी के राजा का वंश चला और उनके निमित्त ही 'अखरावट' की रचना भी हुई। परन्तु अमेठी के राजा-वंश से इसका कोई सूत्र नहीं मिलता। 'अखरावट' की रचना का जो कारण बताया जाता है वह भी ठीक नहीं। यदि अखरावट ज्योतिष का ग्रन्थ होता तो यह मान लिया जाता कि जायसी ने जन्माष्टमी के अवसर पर जो ठीक समय बताया था, उसीके कारण राजा के आग्रह पर उसकी रचना हुई। परन्तु 'अखरावट' परमार्थ-साधन और सिद्धान्त का ग्रन्थ है उसकी रचना आत्म-तृप्ति के लिये ही हुई होगी।

मलिक मुहम्मद जायसी के निधन की तिथि तो निश्चित सी जान पड़ती है पर सन नहीं। काजी सैयद आदिल हुसैन ने अपने रोजनामचे में मलिक मुहम्मद की निधन-तिथि ५ रज्जब ९४९ हिजरी (१५४२ ई०) लिखी है। हमारी दृष्टि

में यही तिथि ठीक है। इसके अतिरिक्त और भी कुछ तिथियाँ जैसे १०६९ हिजरी, १०४९ हिजरी आदि भी मिलतीं हैं जो किसी भी दशा में ठीक नहीं ठहरतीं। हाँ, जो लोग जायसी का जन्म सन् ९०० हिजरी में मानते हैं उनकी दृष्टि में ९४९ नहीं, ९९९ हिजरी ही ठीक है। कारण कि 'पदमावत' के, अन्त में जो बुढ़ापा का चित्र खींचा गया है वह इसी समय ठीक उतरता है। इस दृष्टि से मुसलमानी गणना से जायसी का जीवन ९९ वर्ष ठहरता है और हमारी दृष्टि से (९४९-८७०) ७९ वर्ष ठहरता है जो बुढ़ापे का द्योतक भी है और साथ ही जायसी के जीवन की सारी घटनाओं को समेटने में समर्थ भी। सन ९९९ हिजरी को ठीक मानने में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि 'पदमावत' के बाद जायसी ने क्या लिखा इसका कुछ पता नहीं। यदि 'पदमावत' का रचना-काल ९४७ हिजरी ही मान लिया जाय तो भी (९९९-९४७) ५२ वर्षों में केवल 'पदमावत' का बनना खटकता है। ऐसी स्थिति में उचित तो यह प्रतीत होता है कि हम जायसी का जीवन-काल ८७० से ९४९ हिजरी तक मानें और 'पदमावत' का रचना काल ९२७ से ९४८ तक। शेरशाह की वन्दना इसी सन की हो तो कोई आश्चर्य नहीं। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने ग्रन्थों में अपना जो कुछ परिचय दिया है उसकी व्याख्या हो चुकी। उसके अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में जो प्रवाद प्रचलित हैं उनके बारे में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उनके जीवन में जिस घटना का विशेष महत्त्व है वह यही कही जाती है कि जायसी को सच्चा विराग उस दिन हुआ, जिस दिन उन्होंने किसी साधारण व्यक्ति के अभाव में एक कोढ़ी लकड़हारा के साथ भोजन किया और उसके पीप-सने जूठन को आप ही पी लिया। उनका पीना था कि कोढ़ी लुप्त हो गया और उनकी आँख खुल गई। जायसी ने अपने विराग का नाम तो 'आखिरी कलाम' में लिया है परन्तु उसका समय नहीं दिया है। 'मलिक मुहम्मद बिहनै होइ निकसिन तेहि बाट, के 'बिहनै' का अर्थ यदि जीवन के प्रातःकाल में है तो मानना होगा कि बचपन में ही उन्हें वैराग्य हो गया था। फिर घर-बार की संगति कब और कहाँ बैठेगी यह ठीक ठीक कहा नहीं जा सकता।

जायसी के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि 'ज़िक्र असदी' के समय उनका बध सिंह-ध्वनि के भ्रमसे हो गया था। यहाँ देखना यह चाहिये कि जायसी की साधना थी क्या? यह तो मानी हुई बात है कि जायसी ने अपने अध्यात्म को 'पदमावत' का रूप दिया है और अंत में उसके उपसंहार में कह भी दिया है—

'मैं एहि अरथ पडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥

तुरकी, अरबी, हिंदुई, भाषा जेती आहिं।
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि'॥ १॥

—पृष्ठ ३४१।

जायसी ने अपनी प्रेम-कथा में जिस प्रेम-मार्ग का जो प्रदर्शन किया है उसकी व्याख्या भी उन्होंने अपने ढंग से कर दी है। सिंघल मे जो पद्मिनी अथवा हृदय में जो बुद्धि है उसकी प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है इसका आदेश आदिनाथ महादेव ने मरु राजा को इस प्रकार दिया है—

'गढ़ तस बाँकि जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे। जेइ पावा तेहि आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तहँ फिरहि पाँच कोटवारा॥
दसवँ दुवार गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका॥
भेदै जाइ सोइ वह घाटी। जौ लहि भेद, चढ़ै होइ चाँटी॥
गढ़ तर कुंड, सुरँग तेहि माहाँ। तहँ वह पंथ कहौ तोहि पाहाँ॥
चोर बैठ जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी॥

जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेइ जो सरग-दुआरी चढ़ै सो सिंगल दीप' ॥ ९ ॥

—पृष्ठ १०५।

कायागढ़ के बाँक चढ़ाव का बोध तो हो गया परन्तु उसकी विधि का पता अभी नहीं चला। अतएव उसे भी देख लेना चाहिये—

दसवँ दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥
जाइ सो तहाँ साँस मन बँधी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी ॥
तू मन नाथु मारि कै साँसा। जो पै मरहि अबहिं करु नासा ॥
परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासौं राता ॥
'हौं हौं' कहत सबै मति खोई। जो तू नाहिं आहि सब कोई ॥
जियतहि जुरै मरै एक बारा। पुनि का मीचु, को मारै पारा ? ॥
आपुहि गुरू सो आपुहि चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला ॥
आपुहि मीच जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आप करै जो चाहै, कहाँ सो दूसर कोइ' ? ॥ १० ॥

—पृष्ठ १०५-१०६।

सक्षेप में यही जायसी की साधना है और है यही जायसी का सिद्धान्त। इसी को स्वतन्त्र रूप से देखना हो तो 'अखरावट' का अन्त देखें—

'चेला चरचत गुरु-गुन गावा। खोजत पूछि परम रस पावा ॥
गुरु विचारि चेला जेहि चीन्हा। उत्तर कहत भरम लेइ लीन्हा ॥
जगमग देख उहै उजियारा। तीनि लोक लहि किरन पसारा ॥
ओहि ना बरन, न जाति अजाती। चंद न सुरुज, दिवस ना राती ॥
कथा न अहै अकथ भा रहई। बिना विचार समुझि का परई ? ॥
सोऽहं सोऽहं बसि जो करई। जो बूझै सो धीरज धरई ॥
कहै प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझै सो सिद्ध गियानी ॥
माटी कर तन भाँडा, माटी महँ नव खंड।
जे केहु खेलै माटि कहँ, माटी प्रेम प्रचंड ॥'

—पृष्ठ ३८१-२।

जायसी ने जो कुछ कहा है उसे विवेक की आँख से देखें तो 'पदमावत' का सारा रहस्य खुल जाय, और जायसी का भेद भी भली-भाँति मिल जाय। जायसी भी हठ-योग की साधना मानते हैं पर साथ ही साथ यह भी कहते जाते हैं कि यही सब कुछ नहीं। इसके आगे जो है वही सब कुछ है। जायसी ने चित्त-वृत्ति-निरोध के लिए योग को ठीक ठहराया है, कुछ परम-ज्ञान अथवा सिद्ध-रस के लिये नहीं। यही कारण है कि पद्मिनी जब रत्नसेन को प्राप्त हो जाती है तब वह उनके योग को अधिक महत्त्व नहीं देते। एक प्रकार से उसका उपहास ही करते हैं। 'रसायन' के प्रति भी उनकी यही धारणा है।

जायसी ने जहाँ प्रेम को 'जोग' से ऊँचा ठहराया है वहीं 'नाद' से वेद को भी। राजा 'नाद' के बिना भोजन नहीं करता है और पंडित से प्रश्न करता है—

'तुम पडित जानहु सब भेदू। पहिले नाद भएउ, तब बेदू ॥
आदि पिता जो बिधि अवतारा। नाद संग जिउ ज्ञान सँचारा ॥
सो तुम बरजि नीक का कीन्हा। जेंवन संग भोग बिधि दीन्हा ॥
नैन, रसन, नासिक दुइ स्रवना। इन्ह चारिहु सँग जेंवै अवना ॥
जेंवन देखा नैन सिराने। जीभहि स्वाद भुगुति रस जाने ॥
नासिक सबै बासना पाई। स्रवनहिं काह करत पहुनाई ? ॥
तेहि कर होइ नाद सौं पोखा। तब चारिहु कर होइ सँतोखा ॥
औ सो सुनहिं सबद एक जाहि परा किछु सूझि।
पंडित ! नाद सुनै कहँ बरजेहु तुम का बूझि ?' ॥ १२ ॥

—पृष्ठ १४१-२।

पंडित चुप नहीं रहते, झट उत्तर देते हैं—

'राजा ! उतर सुनहु अब सोई। महि डोलै जौ बेद न होई ॥
नाद, बेद, मद, पैंड जो चारी। काया महँ ते, लेहु विचारी ॥
नाद हिये, मद उपनै काया। जहँ मद तहाँ पैंड नहिं छाया ॥
होइ उनमद जूझा सो करै। जो न बेद-आँकुस सिर धरै ॥

जोगी होइ नाद सो सुना। जेहि सुनि काय जरै चौगुना॥
कया जो परम तंत मन लावा। घूम माति, सुनि और न भावा॥
गए जो धरमपंथ होइ राजा। तिन कर पुनि जो सुनै तो छाजा॥
जस मद पिए घूम कोइ, नाद सुने पै घूम।
तेहिते बरजे नीक है, चढ़े रहसि कै दूम॥ १३॥'

—पृष्ठ १४२।

जायसी की दृष्टि में 'नाद' को भी स्थान है और 'वेद' को भी, 'नाद' उन्माद के लिये, वेद अंकुश के लिये। यदि वेद न रहे तो उन्माद में आकर लोग परस्पर जूझा करें, और कहीं शान्ति का विधान न हो। 'पदमावत' और कुछ नहीं, इसी 'नाद' और इसी वेद का समन्वय है। उसका पूर्वार्द्ध 'नाद' है तो उत्तरार्द्ध 'वेद' है। यही वेद जायसी को 'जोग' से अलग करता है और अलग करता है कबीर से भी। कबीर ने वेद की मर्यादा का उल्लंघन किया और सदा सबसे जूझते ही रहे। जायसी ने ऐसा नहीं किया उनके वेद ने कहा—

विधना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोआँ जेते।

फिर भी, जायसी का अपना पक्ष यह है—

'ना—नमाज है दीन क थूनी। पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी॥
कही तरीकत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू॥
तेहि के नाव चढ़ा हौ धाईं। देखि समुद-जल जिउ न डेराईं॥
जेहि के ऐसन खेवक भला। जाइ उतरि निरभय सो चला॥
राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुड़ूकी॥
ढूँढ़ि उठै लेइ मानिक मोती। जाइ समाइ जोति महँ जोती॥
जेहि कहँ उन्ह अस नाव चढ़ावा। कर गहि तीर खेइ लेइ आवा॥
साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी निभरम पहुँचै सोइ॥

सोरठा

जेइ पावा गुरु मीठ सो सुख मारग महँ चलै।

सुख अनँद भा डीठ, मुहमद साथी पोढ़ जेहि ॥ २६॥"

—पृष्ठ ३६३ ।

साधना के क्षेत्र में सद्गुरु को सभी मानते हैं और सभी मानते हैं 'तरीकत' को। हाँ, यदि कबीर जैसे 'आजाद' लोग नहीं मानते हैं तो 'शरीअत' को। जायसी भी कहते हैं—

'दा दाया जाकहँ गुरु करई। सो सिख पंथ समुझि पग धरई ॥
सात खंड औ चारि निसेनी। अगम चढ़ाव, पंथ तिरबेनी।
तौ वह चढ़ै जै गुरू चढ़ावै। पाँव न डगै, अधिक बल पावै ॥
जो गुरु सकति भगति भा चेला होई खेलार खेल बहु खेला ॥
जो अपने बल चढ़ि कै नाँघा। सो खसि परा टूटि गई जाँघा ॥
नारद दौरि संग तेहि मिला। लेइ तेहि साथ कुमारग चला ॥
तेली बैल जो निसि दिन फिरई। एकौ परग न सो अगुसरई ॥
सोइ सोधु लागा रहै जेहि चलि आगे जाइ।
नतु फिरि पाछे आवई, मारग चलि न सिराइ ॥

सोरटा

सुनि हस्ती कर नॉव, अँधरन्ह टोवा धाइ कै।
जेइ टोवा जेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा ॥' २४ ॥

—पृष्ठ ३६१ ।

यह हस्ती का दृष्टान्त बौद्धों से इमाम ग़ज्जाली ने लिया और फिर वह विश्व-व्यापक हो गया। जायसी की उदारता ऐसी नहीं कि वह सभी पन्थों को सम-दृष्टि से देख सकें। उनकी दृष्टि में तो—

'सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कबिलास बसेरा ॥
लिखि पुरान बिधि पठवा साँचा। भा परवाँन, दुवौ जग बाँचा ॥
सुनत ताहि नारद उठि भागै। छूटै पाप, पुन्नि सुनि लागै ॥
वह मारग जो पावै सो पहुँचै भव पार।
जो भूला होइ अनतहि तेहि लूटा बटपार' ॥

—पृष्ठ ३६२ ।

सच है, जायसी किसी से लड़ते नहीं पर लड़ाते सदा अपनी ही हैं। 'पदमावत' में जहाँ जायसी मुसलमान हैं वहीं 'अखरावट' में मुहम्मदी और 'आखिरी कलाम', में तो प्रत्यक्ष ही 'फातिमी'। बीबी फातिमा के प्रसाद से ही अल्लाह को संतोष होगा और रसूल की उम्मत (मुसलमान) की मुक्ति होगी। अच्छा होगा, इसे जायसी के शब्दों में ही सुन लें। 'आख़िरत' (कयामत) मे अल्लाह का सक्रोध कहना है—

पुनि रिसाइ कै काहै गोसाईं। फातिम कहँ ढूँढ़हु दुनियाईं ॥
का मोसौं उन झगर पसारा। सहन हुसैन कहौ को मारा ॥
ढूँढ़े जगत कतहुँ ना पैहैं। फिरि कै जाइ मारि गोहरैहैं ॥
'ढूँढ़ि जगत दुनिया सब आएउँ। फातिम-खोज कतहुँ ना पाएउँ ॥'
'आयसु होइ, अहैं पुनि कहाँ'। उठा नाद हैं धरती महाँ ॥
'मूँदै नैन सकल संसारा। बीबी उठैं, करैं निस्तारा ॥'
'जो कोइ देखै नैन उघारी। तेहि कहँ छार करौं धरि जारी ॥'
आयसु होइहि दैउ कर, नैंन रहैं सब झाँपि।
एक ओर डरैं मुहम्मद, उमत मरै डरि काँपि ॥ ३८ ॥

—पृष्ठ ३९९-४०० ।

अल्लाह का आदेश कभी टल नहीं सकता। रसूल ने सब कुछ किया। बेटी फातिमा को भाँति-भाँति से समझाया। परिणाम यह हुआ कि—

तब रसूल के कहें भइ माया। जिन चिन्ता मानहु, भइ दाया ॥
जौ बीबी अबहूँ रिसियाई। सबहि उमत-सिर आइ बिसाई ॥
अब फ़ातिम कहँ बेगि बुलावहु। देइ दाद तौ उमत छोड़ावहु ॥
फ़ातिम आइ कै पार लगावा। धरि यज़ीद दोज़ख़ महँ गवा ॥

—पृष्ठ ४०१ ।

मलिक मुहम्मद जायसी ने फ़ातिमा के प्रति जो भाव प्रकट किया है उससे प्रतीत होता है कि जायसी वस्तुतः शीया थे। परन्तु ऐसा मानने का कोई दृढ़

आधार नहीं। कारण यह कि आप 'तबर्रा' नहीं पढ़ते, प्रत्युत 'मदह सहाबा' में ही मग्न होते हैं—

चारि मीत जो मुहमद ठाऊँ। जिन्हहिं दीन्ह जग निरमल नाऊँ॥
अबाबकर सिद्दीक़ सयाने। पहिले सिदिक दीन वह आने॥
पुनि सो उमर खिताब सुहाए। भा जग अदल दीन जो आए॥
पुनि उसमान पंडित बड़ गुनी। लिखा पुरान जो आयत सुनी॥
चौथे अलीसिंह बरियारू। सौंहँ न कोऊ रहा जुझारू॥
चारिउ एक मतै, एक बाना। एक पंथ औ एक सँघाना॥
बचन एक जो सुना वह साँचा। भा परवान दुहूँ जग बाँचा॥

जो पुरान बिधि पठवा सोई पढ़त गरंथ।
और जो भूले आवत सो सुनि लागे पंथ॥ १२॥

—पृष्ठ ५–६।

इसे आप जाप जायसी की उदारता कहें, शील कहें, कुछ भी कहें पर साथ ही इसे भी ध्यान रक्खें कि जायसी 'फ़ातिमी' थे। उस चिश्ती वंश के मुरीद थे जो फातिमी पर सुन्नी है, और इस देश में शीया सुन्नी का संघर्ष बचाकर अपने मजहब का प्रचार करना चाहते थे और इस ढब से यहाँ की भाषा में करना चाहते थे कि किसी का इससे विरोध न हो और उनका इष्ट भी सध जाय।

कबीर में हठयोगी बातों को देखकर जो लोग उन्हें इसी 'बिन्दु' का फल समझते हैं उन्हें जायसी का अध्ययन आँख खोलकर करना चाहिये। जायसी ही क्या? अन्य सूफियों ने भी अपने प्रचार के लिए योग-मार्ग को अपनाया है और अपनाते भी क्यो नहीं? उस समय इन्हीं योगियों की पूछ तो घर घर होती थी और इन्हीं की सिद्धि तो चारों ओर फैली हुई थी। ख्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती को जो लोहा किसी योगी से लेना पड़ा था उसे सभी मुसलमान बच्चा जानता है और जानता है इस बात को कि सूफियों ने किस प्रकार अपनी करामात से

जोगियों को दबाया। अस्तु, जनता के हृदय में पैठने के लिये सूफियों को जिस मार्ग से प्रवेश पाना था वह उस समय यही योग-मार्ग था। इस योग-मार्ग का प्रचार किसी न किसी रूप में इस देश से बाहर भी हो चुका था और बाहर के सूफी भी कुछ न कुछ इसके प्रभाव में आ गये थे। निदान जब मजहबी सूफियों ने इस देश को अपना क्षेत्र बनाया तो कुछ न कुछ हठ-योग को भी अवश्य अपनाया। जायसी ने तो इसको अपनी साधना का अंग सा बना लिया। यहाँ तक कि 'पदमावत' में भी इसका विधान किया और रत्नसेन तथा पद्मावती को 'सूरज, और 'चाँद' के रूप में अंकित कर दोनों को 'सातवें सरग' में मिला दिया—

'हौं रानी पदमावती' सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं मैं तेहि के प्रथम करै अपनास'॥ १७॥

—पृष्ठ ११४।

पद्मावती ने जिसको सात सरग कहा है वही जायसी का सात खंड भी है जिसकी स्थिति पिंड के भीतर यह है—

'टा-टुक झाँकहु सातौ खंडा। खंडै खंडा लखहु बरम्हंडा॥
पहिल खंड जो सनीचर नाऊँ। लखि न अटकु, पौरी महँ ठाऊँ॥
दूसर खंड बृहस्पति तहँवाँ। काम-दुवार भोग-घर जहँवाँ॥
तीसर खंड जो मंगल जानहु। नभि-कवँल महँ ओहि अस्थानहु॥
चौथ खंड जो आदित अहई। बाईं दिसि अस्तन महँ रहई॥
पाँचवँ खंड सुक्र उपराहीं। कंठ माहँ औ जीभ-तराहीं॥
छठएँ खंड बुद्ध कर बासा। दुइ भौंहन्ह के बीच निवासा॥
सातवँ सोम कपार महँ, कहा सो दसवँ दुवार।
जो वह पँवरि उघारै सो बड़ सिद्ध अपार'॥

—पृष्ठ ३५६।

जायसी ने यहाँ जिन खंडों का उल्लेख किया है वे ग्रहों की दृष्टि से तो

ठीक हैं ही सर्वथा हठ-योग के भी अनुकूल हैं। जायसी के अध्ययन में जो सबसे बड़ी अड़चन उपस्थित होती है, वह यह है कि जायसी 'पदमावत' में कहीं 'नौ खंड' का उल्लेख करते हैं तो कहीं 'सात खंड' का। सात खंड का पता तो चल गया। नौ खड के सम्बन्ध में इतना जान लें कि नौ खंड के साथ जायसी ने नौ पौरी का भी विधान किया है—

नवौ खंड नव पौरी औ तहँ वज्र-केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥ १७॥

—पृष्ठ १९।

बसेरे तो यहाँ भी चार ही हैं किन्तु खंड हैं नौ। 'नवद्वारे पुरे देही' तो प्रचलित है ही। सिद्धों में भी—

'नवसु द्वारदेशेषु नवखण्डान्यकीर्त्तयन्।'

—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, पृष्ठ २०, श्लोक २४।

सूफियों और योगियों में जो एकता दिखाई देती है वह यहीं तक नहीं रह जाती। उसका सूत्र तो हमें कुरान और उपनिषदो में भी मिलता है। इस विषय में यदि विशेष रूप से कुछ जानना हो तो हमारी 'क़ुर्आन में हिन्दी' नाम की पुस्तक देखें।

कबीर और जायसी में सब से बड़ा भेद यह है कि कबीर मनमौजी और जायसी किताबी हैं। कबीर विधि-विधान को नहीं मानते स्वतंत्र-विचार के जीव ठहरे। जायसी विधि-विधान को मानते हैं शरा़अ (शास्त्र) को छोड़ नहीं सकते। सूफी दृष्टि से जायसी बाशरा सूफी हैं तो कबीर बेशरा सूफी। कबीर को खंडन बहुत प्यारा है जायसी मंडन के भूखे हैं। कबीर दूसरे को झकझोरते हैं जायसी उसको लुभाते और फ़ुसलाते हैं। कबीर चुटकुलो से काम लेते हैं, जायसी प्रबन्ध से भूमिका बाँध कर। कबीर छुड़ाना चाहते हैं जायसी लगाना चाहते हैं। जायसी भी मूर्त्ति-पूजा को ठीक नहीं समझते। 'पदमावत' में उसकी भर्त्सना करते हैं परन्तु किस ढंग से और किस रूप में। रत्नसेन पद्मिनी के साक्षात्कार

के लिये शिव-मन्दिर में जाता है और उसके दर्शन से वंचित हो जाने पर हताश हो कर पछताता है—

'अरे मिलिछ बिसवासी देवा। कित मैं आइ कीन्ह तोरि सेवा ॥
आपनि नाव चढ़ै जो देई। सोतो पार उतारै खेई ॥
सुफल लागि पग टेकेउँ तोरा। सुआ क सेंवर तू भा मोरा ॥
पाहन चढ़ि जो चहै भव पारा। सो ऐसे बूड़ै मझ धारा ॥
पाहन सेवा कहाँ पसीजा ?। जनम न ओद होइ जौ भीजा ॥
बाउर सोई जो पाहन पूजा। सकत को भार लेइ सिर दूजा ? ॥
काहे न पूजिय सोइ निरासा। मुए जियत मन जाकरि आसा ॥
सिंघ तरेंदा जेइ गहा पार भए तेहि साथ।
ते पै बूड़े बाउरे भेंड़-पूँछि जिन्ह हाथ ॥ ४ ॥

—पृष्ठ ९९।

सचमुच जायसी सिंह के उपासक हैं भेंड़ के नहीं। फिर भी, पाहन को ठुकराते नहीं। पाहन देवता भी कुछ सुना जाते हैं। सुनिये—

देव कहा सुनु, बउरे राजा। देवहि अगुमन मारा गाजा ॥
जौं पहिलेहि अपने सिर परई। सो का काहुक धरहरि करई ॥
पदमावति राजा कै बारी। आइ सखिन्ह सह बदन उघारी ॥
जैसे चाँद गोहने सब तारा। परेउँ भुलाइ देखि उजियारा ॥
चमकहि दसन बीजु कै नाईं। नैन-चक्र जमकात भवाँई ॥
हौं तेहि दीप पतंग होइ परा। जिउ जम काढ़ि सरग लेइ धरा ॥
बहुरि न जानौ दहुँ का भई। दहुँ कविलास कि कहुँ अपसई ॥
अब हौं मरौं निसाँसी, हियै न आवै साँस।
रोगिया की को चालै, बैदहि जहाँ उपास ? ॥ ५ ॥

—पृष्ठ ९९–१००।

जायसी ने किस चातुरी से यह दिखाया है कि परम ज्योति का साक्षात्कार होते ही देवता चकपका जाते हैं और किंकर्तव्यविमूढ़ हो कुछ नहीं कर पाते।

इस प्रकार देवोपासना व्यर्थ गई। योग का परिणाम भी सम्मिलन किंवा सम्भोग नहीं हुआ। निदान रत्नसेन का निश्चय है—

'पाएउँ नहिं होइ जोगी जती। अब सर चढ़ौं जरौं जस सती॥
आइ जो पीतम फिरि गा, मिला न आइ वसंत।
अव तन होरी घालि कै, जारि करौं भसमंत॥ ६॥

—पृष्ठ १००।

बस, यही वह 'अपनास' है जिससे प्रियतम की प्राप्ति होती है और प्रेम ही वह मार्ग है जिससे शाश्वत सम्भोग प्राप्त होता है। जायसी ने इसको किस प्रकार 'पदमावत' में चरितार्थ किया है इसका भी अनुसन्धान हो जाना चाहिये। जो लोग पद्मिनी को परमात्मा और रत्नसेन को जीवात्मा का प्रतीक मानते हैं, वे उतावली में कुछ का कुछ समझ लेते है। जायसी ने तो उपसंहार में खोल कर कह दिया है कि पद्मिनी बुद्धि और रत्नसेन मन है फिर हम इनको परमात्मा और जीवात्मा का प्रतीक क्यों मानें?

विचारणीय बात तो यह है कि जायसी ने 'पदमावत' में सब कुछ तो कहा पर यदि नहीं कहा तो जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक को। इसका कारण भी है। 'पदमावत' का परमार्थ पात्रों के निमित्त नहीं, पाठकों के लिये है। 'पदमावत' का एक पात्र जब किसी दूसरे अथवा किसी भी पदार्थ के प्रति अपना भाव व्यक्त करता है तो उसका उसके प्रति वही भाव होता है, उसमें किसी प्रकार के पारलौकिक सकेत का भान उसे नहीं होता। परमार्थ की भावना तो पाठक के हृदय में उठती है। पाठक ही यह समझता है कि कवि इसके भाव को जो रूप दे रहा है उसकी इति पिंड में ही नहीं होती, अपितु वह ब्रह्मांड में भी फैल जाती है। जायसी पिंड के द्वारा ब्रह्मांड की स्थिति को दिखाना चाहते हैं और यह बताना चाहते हैं कि जिस किसी का जिस किसी के प्रति जो कोई भाव होता है वस्तुतः उसका संकेत किसी सामाजिक के चित्त में परम संकेत का विधान करता है। सारांश यह कि जायसी का आश्रय अपने भावो को अपने आलम्बन के प्रति इस प्रकार प्रकट करता है कि हम जीवों के हृदय में वह अध्यात्म का रूप धारण कर लेता है।

अर्थात् यह परमार्थ किसी पात्र में नहीं होता, हाँ, किसी पात्र की भावना में इसकी व्यंजना अवश्य होती है। तात्पर्य यह कि आलम्बन में ही परमात्मा व्यंग्य होता है किसी पात्र-विशेष में नहीं। यही कारण है कि 'पदमावत' में इस परमार्थ की व्यंजना केवल रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम प्रसंग ही में नहीं, सभी प्रसंगों में हुई है। इसका कुछ विचार 'पदमावत का परमार्थ' शीर्षक निबन्ध में किया गया है, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, से 'विचार-विमर्श' के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

जायसी के इस लक्ष्य से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण हिन्दी-संसार में उनकी बड़ी दुर्गति हुई है और 'पदमावत' भी गड़बड़झाले की पोथी बन गई है। अतः इसके सम्बन्ध में थोड़ा और विचार कर लेना अच्छा होगा। जायसी नागमती को दुनिया-धन्धा कहते हैं और अलाउद्दीन को माया। पद्मिनी के प्रेम में रत्नसेन ही नहीं पड़ते अलाउद्दीन भी उसे चाहता है। यदि रत्नसेन पद्मिनी की प्राप्ति के लिये सिंघल की यात्रा करते हैं तो अलाउद्दीन भी दल-बल के साथ चित्तौड़ को घर दबाता है। बात तो यही है किन्तु दोनों की भावना में भेद है, साधना में अन्तर है। यही नहीं, दोनों के गुरु भी भिन्न भिन्न प्रवृत्ति के हैं। जायसी ने एक को गुरु कहा है तो दूसरे को शैतान। रत्नसेन का नेता 'हीरामन' सुआ है, परन्तु अलाउद्दीन का नेता राघवचेतन शैतान। कहा चाहें तो कार्य की दृष्टि से कह सकते हैं कि रत्नसेन अपने कार्य में सफल होता है और अलाउद्दीन असफल। 'पदमावत' का पूर्वार्ध रत्नसेन का प्रयत्न है तो उसका उत्तरार्ध अलाउद्दीन का। नागमती और पद्मावती की भी कुछ यही स्थिति है। नागमती अपने पति के लिये तड़पती तो है पर कुछ करती नहीं उसे बुलाती है पर छुड़ाती नहीं। हाँ, इतना अवश्य करती है कि पद्मावती के आने पर उससे झगड़ती है पर रत्नसेन के समझा देने पर शान्त हो जाती है और अन्त में सारा मनमुटाव मिटाकर सती होती है पद्मिनी के साथ ही।

जायसी ने नागमती को जो दुनिया धन्धा कह दिया है उसमें दुनिया-धन्धा की उपेक्षा नहीं है। उसमें तो यह दिखाया गया है कि जो दुनिया-धन्धा में ही

मग्न रहा वह बच नहीं सकता। संसार से मुक्ति पाना है तो बुद्धि का सेवन करो। सद्गुरु के बताये मार्ग पर चलो और बाहु-बल की अपेक्षा हृदय-बल को महत्त्व दो। बुद्धि की प्राप्ति हो जाने पर विराग लेने की आवश्यकता नहीं। दुनिया-धन्धा को छोड़ कर कहीं एकान्त में तप साधना जायसी का पक्ष नहीं। जायसी की साधना लोक और परलोक का समन्वय चाहती है किसी की अवहेलना नहीं। यही कारण है कि जायसी 'पदमावत' के अन्त में दुनिया-धन्धा, मन, और बुद्धि को एक ही में मिला देते हैं और उनकी मिली-जुली ज्योति की छटा दिखा कर सबको उसी ओर बढ़ने का निर्देश करते हैं।

नागमती की भाँति ही अलाउद्दीन का रूप भी कुछ लोगों को खटकता है। कदाचित् इसका कारण यह है कि ये लोग माया का अर्थ नहीं समझते। जायसी ने माया का प्रयोग ऐश्वर्य के अर्थ में किया है, कुछ वेदान्त की माया के अर्थ में नहीं। अलाउद्दीन यदि वेदान्त की माया का प्रतीक होता तो उसे किसी शैतान राघवचेतन की आवश्यकता क्यों पड़ती? राघवचेतन के सम्बन्ध में भूलना न होगा कि वह सदा रत्नसेन के साथ रहा। जायसी कहते हैं—

'राघव चेतन चेतन महा। आऊ सरि राजा पहँ रहा॥
चित चेता, जानै बहु भेऊ। कबि बियास पंडित सहदेऊ॥
बरनी आइ राज कै कथा। पिंगल महँ सब सिंघल मथा'॥

—पृष्ठ २२८।

किन्तु तो भी सिंघल की यात्रा में कहीं उसका दर्शन नहीं होता। उसका दर्शन तो तब होता है जब रत्नसेन पद्मावती को प्राप्त कर अपने आसन पर आ विराजते हैं और सद्गुरु सुआ का लोप हो जाता है। सच है, सद्गुरु और शैतान साथ साथ अपना पन्थ नहीं दिखा सकते। सद्गुरु ने अपना काम कर दिया अब शिष्य का काम है कि वह अपने आप को पूर्ण करे। किन्तु शिष्य का उद्धार तभी हो सकता है जब गुरु उसे प्राज्ञ बना दे। अथवा यह कहिये कि उसकी रक्षा के हेतु उसे प्रज्ञा की उपलब्धि हो जाय। प्रज्ञा प्राप्त हो जाने पर

साधक यदि साधना में सावधान नहीं रहा तो वह प्रलोभन में पड़ेगा और विभूतियों में इस प्रकार घिर जायगा कि फिर प्रज्ञा के द्वारा ही उसका उद्धार होगा। रत्नसेन राघव चेतन को समझता नहीं, उसकी शक्ति को पहचानता नहीं। उसे देश-निकाला देता है और उसके प्रयत्न से जब अलाउद्दीन आ घेरता है तब पहले तो उससे युद्ध ठानता है पर जब वह भाँति-भाँति की हरियाली दिखाता है तब किसी का समझाना-बुझाना नहीं मानता और अपने आप उसके चंगुल में फँस जाता है। योग की साधना में इसे ही अन्तराय अथवा सिद्धियों के फेर में पड़ना कहते हैं और यदि इसे योग के रूप में ही कहना चाहें तो कहना होगा कि रत्नसेन चित्त वृत्ति-निरोध को छोड़ कर चित्त वृत्ति विलास में मग्न हो गया। जिसका परिणाम हुआ पतन। इस पतन से उसकी रक्षा हुई बुद्धि के द्वारा—पद्मिनी के प्रयत्न से ही।

'पदमावत' की मीमांसा की इस भूमि में पहुँच कर देखना यह होगा कि जायसी के इस विधान से कथा में कोई दोष तो नहीं आ गया। कहना न होगा कि जिन लोगों ने 'पदमावत' में कथा और अध्यात्म का घपला देखा है उन्होंने देखने का ढंग सुचारू-रूप से नहीं सीखा। जायसी सम्भवतः जानते थे इसीलिये तो उन्होंने उपसंहार में इसका निर्देश किया और पंडितों की दुहाई दी—'मैं यहि अरथ पडितन्ह बूझा'। सचमुच, जायसी का यह परमार्थ पंडितों को ही सूझ पड़ेगा। उन्हीं की समझ में यह समा सकेगा जो पिंड में ब्रह्मांड देखना जानते हैं और जानते हैं 'परकाया परवेश'। अर्थात् जो दूसरे की बात समझते हैं, और किसी के साथ तादात्म्य करना-जानते हैं।

कथा वस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो 'पदमावत' की कथा में कल्पना भी है, इतिहास भी। कल्पना का आधार इतिहास है तो इतिहास में कल्पना भी है। 'पदमावत' का पूर्वार्ध कल्पना का परिणाम है और, यह कल्पना हुई है साधना की दृष्टि से। यहाँ रत्नसेन राजा नहीं साधक है। इसमें जो थोड़ा बहुत इतिहास है उस पर कवि का ध्यान नहीं। कवि का ध्यान है—'चारु बसेरे सों चढ़े

सौं उतरै पार'। परन्तु 'पदमावत' के उत्तरार्ध में कवि का ध्यान इतिहास पर है। यह बात दूसरी है कि उसमें भी यत्र-तत्र कल्पना का पुट है जिसका कारण है अपनी साधना को ठीक करना। पूर्वार्ध में यदि पाँच नगों की बात न आती तो उससे उत्तरार्ध की कोई संगति न बैठती। उन्हीं के कारण दोनों अंगों में मेल दिखाई देता है और ऐसा जान पड़ता है कि यदि वैसा न हुआ होता तो ऐसा न होता।

जायसी ने रत्नसेन के प्रेम को परखने का प्रयत्न किया है। पूर्वार्ध में हम देखते हैं कि साधक रत्नसेन की परीक्षा पार्वती करती हैं और करती है समुद्र की बेटी लक्ष्मी भी। उत्तरार्ध में हम देखते हैं कि पद्मिनी के सतीत्व की परीक्षा होती है दूतियों के द्वारा। रत्नसेन के अभाव में दूती आती है देवपाल की और आती है बादशाह की भी। अलाउद्दीन की दूती देवपाल की दूती से भिन्न है। वह जोगिनी के वेश में आती है और पद्मिनी को भरमाना चाहती है। देवपाल की दूती पद्मिनी की नैहर की हितैषिणी ब्राह्मणी बन कर आती है और फलतः उसे छलना भी गहरे में चाहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्मिनी की इस परीक्षा में रत्नसेन की वह परीक्षा भी अपना गुण दिखाती है और दोनों के सम-प्रेम को स्पष्ट करती है।

देवपाल का प्रसंग यों ही नहीं उठा है। इससे काम भी दुहरा लिया गया है। एक तो राजपूती आन और राजपूती द्वन्द्व के लिये और दूसरा यह कि इस प्रकार की नीच चेष्टा मुसलमान ही नहीं हिन्दू भी करते हैं। देवपाल की दूती का महत्त्व अनेक दृष्टियों से है। जायसी ने इसमें बहुत कुछ भरा है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से ही। जायसी ने देवपाल के प्रसंग के द्वारा प्रबन्ध की बहुत सी कठिनाइयों को दूर किया है और अन्त में रत्नसेन के निधन का कारण भी उसका द्वन्द्व-युद्ध ही बनाया है। रत्नसेन चल बसा पद्मावती उसको लेकर सती हुई। नागमती ने उसका साथ दिया। रत्नसेन की जीवन लीला समाप्त हुई, किन्तु बादशाह को क्या मिला? मुट्ठी भर छार। जायसी लिखते हैं—

"वै सहगवन भईं जब जाईं । बादसाह गढ़ छेंका आईं ॥
तौं लगि सो अवसर होइ बीता । भए अलोप राम औ सीता ॥
आइ साह जौ सुना अखारा । होइगा राति दिवस उजियारा ॥
छार उठाइ लीन्ह एक मूठी । दीन्हि उड़ाइ, पिरथिमी झूठी ॥
सगरिउ कटक उठाईं माटी । पुल बाँधा जहँ जहँ गढ़-घाटी ॥
जौं लहि ऊपर छार न परै । तौं लहि यह तिस्ना नहिं मरै ॥
भा धावा, भइ जूझ असूझा । बादल आइ पँवरि पर जूझा ॥
जौहर भईं सब इस्तिरी, पुरुष भए संग्राम ।
बादसाह गढ़ चूरा, चितउर भा इसलाम ॥"

—पृष्ठ ३४० ।

'चितउर भा इसलाम' में जायसी ने क्या कहा है; इसको कहने की आवश्यकता नहीं । कहना तो यह है कि चित्तौड़ के इसलाम होने से अलाउद्दीन को तृप्ति नहीं हुई । उसको तो यह सूझ पड़ा कि इस पृथ्वी में मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । अलाउद्दीन ने अपने जीवन में इससे क्या पाठ पढ़ा इसको इतिहास के प्रेमी खूब जानते हैं । परन्तु जायसी इससे क्या पढ़ाना चाहते हैं वह भी किसीसे छिपा नहीं है । जायसी ने उसे भी उपसंहार में उघार कर रख दिया है ।

जायसी ने अपनी प्रेम-कथा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह है—

'सिंघल दीप पदमिनी रानी । रतनसेन चितउर गढ़ आनी ॥
अलउदीन देहली सुल्तानू । राघौ चेतन कीन्ह बखानू ॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई । हिंदू तुरकन्ह भई लराई ॥
आदि अंत जस गाथा अहै । लिखि भाखा चौपाई कहै ॥
कवि बियास कँवला रस-पूरी । दूरि सो नियर नियर सो दूरी ॥
नियरे दूर फूल जस काँटा । दूरि जो नियरे जस गुड़ चाँटा ॥

भँवर आइ बनखँड सन, लेइ कँवल कै बास।
दादुर बास न पावईं, भलहि जो आछै पास ॥'

—पृष्ठ ११।

जायसी के इस कथन से कहीं रंच भर भी ध्वनित नहीं होता कि जायसी ने इसमें अपना भी कुछ जोड़ा है।

'आदि अंत जस गाथा अहै। लिखी भाखा चौपाईं कहै।'

के अर्थ में तो कोई द्विविधा नहीं पर 'कवि बियास........आछै पास' का संकेत क्या है। क्या कवि इसे अपने तथा अपनी रचना पर घटाना चाहता है? कुछ लोग ऐसा भी सोच सकते हैं। किन्तु प्रतीत तो यह होता है कि कवि इसके द्वारा यह व्यक्त करना चाहता है कि यहाँ कवि भी एक से एक बढ़ कर हुये हैं और यह कथा भी रस से भरी पड़ी है। फिर भी किसी कवि से बन न पड़ा कि इस कथा को काव्य का रूप दे। यह कार्य तो मुझ जैसे अहिन्दू के द्वारा हुआ। एक बात और है। इसमें सहायता के हेतु 'गौरा-पारबती' का आना और इसके लिये महादेव जी को प्रेरित करना इस बात का प्रमाण है कि यह यहाँ की प्रचलित ठेठ कथा-प्रणाली को लेकर चल रही है और इसमें—

'जिनि काहू कहँ होइ बिछोऊ। जस वै मिले मिलै सबकोऊ ॥'

की जो मंगल कामना आ गई है वह भी उसी परम्परा में है। यह कथा कही भी जाती है आज भी अवध के गाँवों में। तो क्या यह कहना उचित न होगा कि जायसी को एक बनी बनाई कथा मिली और उसमें उन्होंने अपनी आत्मा डाल दी।

'पदमावत' में एक प्रकार की और भी कथा आ जाती है जिसको हम 'पदमावत' में प्रवेशक वा विष्कम्भक के रूप में पाते हैं। जायसी ने ऐसी कथा को भी खंड का नाम दिया है। परिणाम यह हुआ है कि कोई कोई खंड इतना छोटा हो गया है कि केवल नौ पंक्तियों का होता है और कोई अट्ठारह पंक्तियों

का। इनमें कहना कुछ नहीं होता, बस बताना भर रहता है कि इसी बीच में यह हो गया। रत्नसेन-जन्म-खण्ड, रत्नसेन-साथी-खंड, रत्नसेन-संतति-खंड इसी ढंग के हैं। इनमें भी रत्नसेन-संतति खंड का तो कथा-प्रबन्ध में कोई उपयोग नहीं। इसे कथा-वस्तु की दृष्टि से जानकारी की वस्तु समझना चाहिये।

'पदमावत' में इस जानकारी की प्रवृत्ति अथवा सब कुछ लिख देने की प्रेरणा से व्याघात भी कम नहीं पड़ा है। वस्तु की दृष्टि से, रस की दृष्टि से, नेता की दृष्टि से, अध्यात्म की दृष्टि से, सभी दृष्टियों से इसी प्रवृत्ति के कारण 'पदमावत' में जहाँ-तहाँ त्रुटि आ गई है, अभाव के कारण नहीं, अति भाव के कारण। जायसी ने 'पदमावत' की रचना 'मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा' की दृष्टि से भी की है। फलतः उसमें बहुत से ऐसे चिन्ह आ गये हैं जिनकी इस प्रेम-कथा में कोई ऐसी आवश्यकता न थी, किन्तु इसका अर्थ यह न समझना चाहिये कि जायसी की इस प्रवृत्ति से कहीं कुछ लाभ ही नहीं हुआ है। नहीं, ऐसा नहीं है। जानकारी के लिये 'पदमावत' में जो बातें दी गई हैं, समय के अध्ययन के लिये उनकी आवश्यकता अनिवार्य है। इस दृष्टि से देखा जाय तो जायसी का यह दोष भी गुण में ही परिणत होगा। जायसी तक ही यह बात नहीं रह जाती। उस समय के सभी प्रबन्ध-काव्यों में यह वृत्ति दिखाई देती है। यहाँ तक कि राम-चरित मानस जैसा प्रौढ़ काव्य भी इसकी लपेट में आ जाता है। आत्म-विज्ञापन राम-चरित-मानस में नहीं है परन्तु समय-समय पर स्थान-स्थान पर जो उसमें उपदेश आते रहे हैं उनकी संख्या न्यून नहीं है। हाँ, गोस्वामी तुलसीदास ने इतना अवश्य किया कि उन्होंने कहीं किसी शब्द को लेकर उसके अर्थ का गुण-गान नहीं किया है। जायसी ने ऐसा बहुत किया है। 'दिया', 'ऊँच', 'प्रीति', 'साँच', और 'पानी' आदि शब्दों पर पूरा व्याख्यान ही दे डाला है। 'ऊँच' पर दिया गया व्याख्यान तो प्रसंग के भीतर खप जाता है उससे रत्नसेन के उत्साह का उत्कर्ष होता है और साथ ही पाठक को उपदेश भी मिल जाता है। लीजिये—

'राजै कहा दरस जौं पावौं। परबत काह, गगन कहँ धावौं॥

जेहि परबत पर दरसन लहना । सिर सौं चढ़ौं, पाँव का कहना ॥
मोहूँ भावै ऊँचै ठाऊँ । ऊँचै लेउँ पिरीतम नाऊँ ॥
पुरुषहि चाहिय ऊँच हियाऊ । दिन दिन ऊँचै राखै पाऊ ॥
सदा ऊँच पै सेइय बारा । ऊँचै सौं कीजिय बेवहारा ॥
ऊँचे चढ़ै, ऊँच खँड सूझा । ऊँचे पास ऊँच मति बूझा ॥
ऊँचे सँग संगति निति कीजै । ऊँचे काज जीउ पुनि दीजै ॥
दिन दिन ऊँच होइ सो, जेहि ऊँचे पर चाउ ।
ऊँचे चढ़त जो खसि परै ऊँच न छाँड़िय काउ' ॥ ५ ॥

—पृष्ठ ७८-९ ।

जायसी यदि एक दो स्थलों पर ही ऐसी छटा दिखा कर रह जाते तो कोई बात न थी। इससे इतना तो होता कि एक ढंग का परिचय प्राप्त हो जाता। परन्तु उन्होंने ऐसा किया नहीं। बादशाह-भोज-खंड में भोजन बनाने की जो विधि और भोज्य पदार्थों का जो विवरण दिया गया है एक तो वही जी उबाने के लिये पर्याप्त था, दूसरे उसके उपरान्त जायसी पानी के इस पचड़े को लेकर सामने आये और अपनी झोंक में दूध और घी को भी पानी बना दिया। देखिये—

'जत परकार रसोइ बखानी । तत सब भई पानि सौं सानी ॥
पानी मूल, परिख जौ कोई । पानी बिना सवाद न होई ॥
अमृत-पान यह अमृत आना । पानी सौं घट रहै पराना ॥
पानी दूध औ पानी घीऊ । पानी घटै, घट रहै न जीऊ ॥
पानी माँझ समानी जोती । पानिहि उपजै मानिक मोती ॥
पानिहिं सौं सब निरमल कला । पानी छुए होइ निरमला ॥
सो पानी मन गरब न करई । सीस नाइ खाले पग धरई ॥

मुहमद नीर गंभीर जो भरे सो मिले समुंद।
भरे ते भारी होइ रहे छूछे बाजहिं दुंद ॥ ११ ॥

—पृ० २८२।

निश्चय ही जायसी की 'पदमावत' में जायसी की साधना है, जायसी का सिद्धान्त है, जायसी का साहित्य है, जायसी का सुभाषित है और है जायसी का संसार भी। जायसी के संस्कार के साथ ही साथ इसमें जायसी की सभ्यता और जायसी की साध भी है। जायसी के अध्ययन में 'पदमावत' का जो महत्त्व है वह तभी प्रकट हो सकता है जब हम उसके परिशीलन में इन सभी बातों को अपने सामने रक्खें और बराबर यह देखते रहें कि उनका उपदेश कहाँ से उठता, कहाँ बैठता और किसमें घर करता है। जायसीने अपने आपको 'पदमावत' में ढाल दिया है, इसमें सन्देह नहीं। और सन्देह नहीं उनकी इस रचना-विदग्धता में।

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में 'पदमावत' की जो प्रतिष्ठा है वह किसी से छिपी नहीं है। और न यही किसी की आँख से ओझल है कि जायसी अपने ढंग के निराले और अनूठे कवि हैं। जायसी ने कहा नहीं, कवि-कर्म किया है। उन्होंने लिखा नहीं, रचा है। निदान, उनकी रचना भी काव्यमय हुई है। जायसी ने रस पर ध्यान दिया, अलंकार को अपनाया, चमत्कार का विधान किया, पर यदि कुछ नहीं किया तो पिंगल में। इतने बड़े काव्य में केवल दो छन्दों का प्रयोग किसी मसनवी—भक्त को भले ही न खटके, किन्तु कोई महाकाव्य का अभ्यासी जीव तो इसको सह नहीं सकता। सभी भावों की व्यजना एक ही छन्द मे करना अपने हृदय के उल्लास को एक बँधी-बँधाई पटरी पर बाँध कर दौड़ाना है। उनकी कलित-कल्लोल-लहरियों का उन्मुक्त आनंद लेना नहीं। पिंगल की दृष्टि से 'पदमावत' में कुछ कहने सुनने का है ही नहीं, बस देखते रहने का है। फिर भी जायसी ने इतना अच्छा किया है कि केशवदास की भाँति 'बहु-छन्द' की लीला में भी नहीं पड़े हैं और उन्हीं छंदों को अपनाया है जो प्रबंध-धारा में मँजे-मँजाये

सिद्ध छंद थे। जायसी ने चौपाई और दोहा के साथ ही साथ 'अखरावट' में सोरठा को भी अपनाया है। सोरठा दोहा से इतना अलग नहीं कि उसे हम कुछ और ही मान लें। फ्रांसीसी पंडित गार्सां दि तासी का कहना है कि कम्पनी सरकार के पुस्तकालय में जायसी के कुछ पद अथवा गीत भी थे। रहे हों, अभी तक तो उनका प्रकाशन नहीं हुआ। उनके आधार पर उनके विषय में कुछ और कहा ही क्या जा सकता है।

अलंकारों की योजना जायसी की अच्छी और अपने लक्ष्य के अनुकूल हुई है। जायसी ने उत्प्रेक्षा को बहुत महत्त्व दिया है। जायसी की उत्प्रेक्षा ही प्रधान है। हेतूत्प्रेक्षा भी और फलोत्प्रेक्षा भी। उत्प्रेक्षा में जायसी की सफलता है तो रूपक में उनकी विफलता। जायसीने रूपकको इस विचारसे मानो घर रक्खा था कि जहाँ कहीं उसको लाना हो, वीर और श्रृंगार को एक करने के लिए ही। जायसी का यह प्रयत्न ठीक वैसा ही रहा है जैसा महात्मा गांधी का राम-रहीम की एकता का। नायिकायें तो आपने भी बहुत देखी हैं और देखी होगीं, कोई रणचंडी नहीं तो कोपचंडी ही सही। उसी दृष्टि से रणभूमि में जाती हुई जायसी की भी एक नायिका को देख लीजिये और अपने लोचन-लाभ से वंचित न रहिये——

कहौं सिंगार जैसि वै नारी। दारू पियहिँ जैसि मतवारी॥
उठै आगि जौ छाँड़हिं साँसा। धुआँ जौ लागै जाइ अकासा॥
सेंदुर-आगि सीस उपराहीं। पहिया तरिवन चमकत जाहीं॥
कुच गोला दुइ हिरदय लाए। अंचल धुजा रहहिं छिटकाए॥
रसना लूक रहहिँ मुख खोले। लंका जरै सो उनके बोले॥
अलक जँजीर बहुत गिउ बाँधे। खींचहिं हस्ती, टूटहिँ काँधे॥
बीर सिंगार दोउ एक ठाऊँ। सत्रुसाल गढ़भंजन नाऊँ॥

तिलक पलीता माथे, दसन वज्र के बान।
जेहि हेरहिं तेहि मारहिं, चुरकुस करहिं निदान॥ १८॥

——पृष्ठ २५८।

रणगामिनी इस नायिका को निकट से जानना हो तो एक दूसरी रणरोपनी नायिका को भी देख लीजिये—

'जौ तुम चहहु जूझि पिउ ! बाजा । कीन्ह सिँगार-जूझ मैं साजा ॥
जोवन आइ सौंह होइ रोपा । बिखरा बिरह, काम-दल कोपा ॥
बहेउ बीररस सेंदुर माँगा । राता रुहिर खड्ग जस नाँगा ॥
भौंहैं धनुक नैन-सर साधे । काजर पनच, बरुनि विष-बाँधे ॥
जनु कटाछ स्यों सान सँवारे । नखसिख बान सेल अनियारे ॥
अलक फाँस गिउ मेल असूझा । अधर अधर सौं चाहहिँ जूझा ॥
कुंभस्थल कुच दोउ मैमंता । पेलौं सौंह, सँभारहु, कंता ! ॥
कोपि सिँगार, बिरह-दल टूटि होइ दुइ आध ।
पहिले मोहिँ संग्राम कै करहु जूझ कै साध' ॥ ७ ॥

—पृष्ठ ३२२-३ ।

जायसी ने जहाँ कहीं शृंगार को वीर का रूप दिया है इसी प्रकार की युक्ति से काम लिया है । जायसी सम्भोग शृंगार में तर्क-वितर्क और वाद-विवाद को जितना महत्त्व देते हैं उतना भाव, भावना और आवेश को नहीं । परिणाम यह होता है कि एक ओर तो उनके संभोग शृंगार में अश्लीलता आ जाती है और दूसरी ओर उनके पात्र बहुत ही निम्न-कोटि के जीव दिखाई देते हैं । जायसी के इस उधार शृंगार से जितनी ही अरुचि होती है उतनी ही उनके विप्रलम्भ में रुचि । जायसी के वियोग वर्णन में एक ही त्रुटि दिखाई देती है सो भी दृष्टि-भेद के कारण । जो जाति मांस से दूर रहती है, और जो कभी किसी का रक्त बहना नहीं देख सकती वही जाति जायसी के प्रेम-प्रसंग में जब मांस का भूनना और रक्त का निकालना देखती है तब सिहर उठती है और फलतः उसका जी उसमें नहीं रमता है । उसको तो इसमें एक ऐसी जुगुप्सा दिखाई देती है जो उचित स्थान

पर न होने के कारण वीभत्स रस की ओर भी नहीं ले जाती। जायसी की यह प्रवृत्ति उनके तुर्कीपन का प्रभाव है। कुछ समझ, समय, सूझ का प्रतिफल नहीं। जहाँ कहीं जायसी इस झोंक से बचे हैं वहाँ उनका काव्य निखर उठा है और हिन्दी-साहित्य में अपना अनूठा पद प्राप्त कर सका है। जायसी के विरह-वर्णन में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सामान्य मानव भाव-भूमि से उठता और विश्व में अपना रूप दिखाता जाता है। जायसी की प्रकृति उनके पात्र की प्रकृति में मिल जाती है और फिर वही फूट कर काव्य का रूप धारण कर लेती है। ऐसी स्थिति में जायसी प्रकृति के उसी रूप को लेते हैं जो उस समय प्रत्यक्ष गोचर होता है। जायसी की वियोग-दृष्टि को देखना हो तो 'पदमावत' का 'नागमती-वियोग खंड' देखना चाहिये। जायसी की भाव-धारा नागमती के वियोग में जैसी बही है वैसी किसी प्रसंग मे अन्यत्र नहीं। भादों में विरहिणी की स्थिति क्या हो जाती है और प्रकृति में उसे क्या दिखाई देता है इसे भी देख लें—

'भा भादों दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अंधियारी॥
मँदिर सून पिउ अनतै बासा। सेज नागिनी फिरि फिरि डसा॥
रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी॥
चमक बीजु, घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
धनि सूखै भरे भादौं माहाँ। अबहुँ न आएन्हि सींचेन्हि नाहा॥
पुरबा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी॥
थल जल भरे अपूर सब, धरति गगन मिलि एक।
धनि जोबन अवगाह महँ, दे बूड़त पिउ! टेक॥ ६॥

—पृष्ठ १७४।

विश्व-विख्यात भाषा-मनीषी स्वर्गीय सर जार्ज ग्रियर्सन महोदय ऐसी ही प्रचलित बोल-चाल की ठेठ भाषा को देख कर यह निष्कर्ष निकाल सके थे कि आर्यावर्त की

ठेठ भाषा में भी उच्च से उच्च भावों को व्यक्त करने की क्षमता है। जायसी ने इसमें अपनी जानकारी से भी काम लिया है। ठीक ढंग से, ठीक अवसर पर। मघा और पुरवा से जो कार्य लिया गया है वह कितना सटीक और सफल है। वर्षा-ऋतु में आक जवास का बिना पात का हो जाना तो कवि-परम्परा में है ही। किन्तु यहाँ जायसी ने उनसे जो काम लिया है वह प्रस्तुत के कितना निकट है। भरे भादों में वही नहीं और भी कोई सूख कर झूर हो जाता है। इस भादों की अँधेरी रात में उसके जी पर जो बीतती है सो तो है ही। जब वह देखती है कि धरती और गगन भी इस ऋतु में मिल कर एक हो गये हैं तब इसके अतिरिक्त उसे कुछ और दिखाई नहीं देता कि वह अपनी उमड़ती हुई जवानी में डूबती हुई अपनी रक्षा के हेतु प्रिय की पुकार करे। उसकी यह पुकार प्रिय के कान में पड़े और वह तटस्थ रहे यह असम्भव है। यही नहीं, जायसी का यह बारहमासा साहित्य क्षेत्र में अकेला ही है। इस की जोड़ का कोई दूसरा विरह-वर्णन नहीं। नागमती का करुणा करके रोना व्यर्थ नहीं गया। उसने तो प्रकट दिखा दिया कि उसकी वेदना से विश्व विदीर्ण हो उठा है—

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु घुँघुची बन बोई॥
भइ करमुखी नैन तन राती। को सेराव? बिरहा-दुख ताती॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होई बनबासी। तहँ तहँ होइ घुँघुचि कै रासी॥
बूँद बूँद महँ जानहुँ जीऊ। गुंजा गूँजि करै 'पिउ पीऊ'॥
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥
देखौं जहाँ होइ सोइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता?॥

नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत॥ १९॥

—पृष्ठ १८०।

नागमती का यह वियोग किसी मानव के कान में पड़ा वा नहीं यह हम नहीं कहते। कहना तो हम यह चाहते हैं कि नागमती के इस विलाप से पक्षी

विकल हो उठे और अंत में एक विहंगम पसीज कर उसकी वेदना को पूछ ही तो बैठा। उससे उसने जो कुछ कहा वह हिन्दू जाति की सच्ची अनुभूति का सार है। कहती है—

हमहुँ बियाही सँग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानु पर-जीऊ ॥
अबहुँ मया करु, करु जिउ फेरा। मोहिँ जियाउ कंत देइ मेरा ॥
मोहिँ भोग सौ काज न, बारी। सौंह दीठि कै चाहन हारी ॥
सवति न होसि तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाँय मोर माथ ॥ ३ ॥

—पृष्ठ १८२।

और यह तो हृदय की बात ठहरी। आन तो कुछ और ही कराती है। उपदेशी सुआ उपदेश देकर रत्नसेन को ले गया तो दयालु विहंगम ने दया करके उसे नागमती का सन्देश भी सुना दिया। रत्नसेन आया और प्रसन्न-मुख से कुछ कहा चाहा तो मर्मभरी वाणी में उत्तर मिला—

काह हँसौ तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह।
तुम्ह मुख चमकै बीजुरी, मोहिँ मुख बरिसै मेह ॥ ७ ॥

—पृ० २१७।

यह आह यहीं तक नहीं रही, धीरे धीरे इसका परिणाम यह हुआ कि पद्मावती और नागमती में ठन गई और अन्त में राजा रत्नसेन को यह उपदेश देना पड़ा—

'एक बार जेइ पिय मन बूझा। सो दुसरैं सौ काहे क जूझा ? ॥
अस गियान मन आव न कोई। कबहूँ राति, कबहुँ दिन होई ॥
धूप छाँह दोउ पिय के रंगा। दूनौ मिली रहहिं एक संगा ॥
जूझ छाँड़ि अब बूझहु दोऊ। सेवा करहु सेव-फल होऊ ॥
गंग जमुन तुम नारि दोउ, लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दूनौ तौ मानहु सुख भोग ॥ १३ ॥

—पृ० २२५।

बस, नागमती सचेत हो उठी और अन्त में पद्मावती के साथ—

'लेइ सर ऊपर खाट बिछाई। पौढ़ीं दुवौ कंत गर लाई॥
लागीं कंठ आगि देइ होरी। छार भईं जरि, अंग न मोरी॥
रातीं पिउ के नेह गईं, सरग भएउ रतनार।
जो रे उवा, सो अथवा; रहा न कोइ संसार॥' ३॥

—पृ० ३४०।

जायसी ने यह क्या किया? यही न कि स्वर्ग को भी रत्नमय कर दिया। फिर इसे हम दुःख की दृष्टि से क्यों देखें। जो हुआ सो गया। उसके जाने की चिन्ता क्या? पर जो कुछ कर गया और जैसे गया वह इतना अद्भुत, पावन और प्राणप्रद है कि हम उसकी आभा में अपना मार्ग बना सकते और स्वर्ग को रत्नमय कर सकते हैं। 'कार्य' में न तो पद्मावती असफल रही, न नागमती, और न रत्नसेन ही और यदि कोई असफल रहा तो अलाउद्दीन, राघव चेतन, कुमुदिनी और देवपाल ही। सारांश यह कि 'पदमावत' का अन्त आनन्दमय रहा। नायक सफल हुआ, प्रतिनायक को मुँहकी खानी पड़ी और सूफी दृष्टि से तो यह महामिलन हो ही गया। फिर दुःख की बात ही कहाँ रही?

'पदमावत' में चार खंड विशेष दृष्टि से लिखे गये हैं—सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड, नागमती-वियोग-खंड, देवपाल-दूती-खंड और गोरा बादल-युद्ध-खंड। इसमें से सिंहल का महत्त्व तो साधना की दृष्टि से है और नागमती-वियोग का वेदना की दृष्टि से। रहे शेष दो उनमें से देवपाल-दूती-खंड तो तर्क-वितर्क, नोक-झोक और काव्य की दृष्टि से लिखा गया है और गोरा-बादल-युद्ध-खंड वीरता और राजपूत-दर्प के लिये। देवपाल की दूती कुमुदिनी किस प्रकार पद्मावती को मूड़ना चाहती है और किस प्रकार तर्क पर तर्क उपस्थित कर नाना प्रकार के बुद्धि-विलास के द्वारा उसे जीत कर देवपाल के घर बसाना चाहती है, एवं उसकी इस नीच चेष्टा से अभिज्ञ हो किस प्रकार उसी तर्क से उसी रूप में पद्मिनी अपने आप को बचाती और अन्त में उसका नाक-कान कटा मूँड़ मुड़ा कर गदहे पर चढ़ा

उसका उचित सत्कार करती है, यह देखने ही योग्य है। अन्त में कुमुदिनी का पद्मिनी से यह कहना—

'पदमिनि ! पुनि मसि बोल न बैना। सो मसि देखु दुहूँ तोरे नैना ॥
मसि सिंगार, काजर सब बोला। मसि कबुंद तिल सोह कपोला ॥
लोना सोइ जहाँ मसि-रेखा। मसि पुतरिन्ह तिन्ह सौं जग देखा ॥
जो मसि घालि नयन दुहुँ लीन्हीं। सो मसि फेरि जाइ नहिं कीन्हीं ॥
मसि-मुद्रा दुइ कुच उपराहीं। मसि भँवरा जे कँवल भँवाहीं ॥
मसि केसहि, मसि भौंह उरेही। मसि बिनु दसन सोह नहिं देही ॥
सो कस सेत जहाँ मसि नाहीं ? सो कस पिंड न जेहि परछाहीं ॥
अस देवपाल राय मसि, छत्र धरा सिर फेर।
चितउर राज बिसरिगा, गएउ जो कुंभलनेर ॥ १६ ॥

—पृष्ठ ३१०।

मसि-पक्ष का कितना प्रबल, पुष्ट और व्यापक आरोप है। जायसी चाहते तो यहाँ पुरुष-सौन्दर्य्य का वर्णन भी कर सकते थे। प्रत्यक्ष नहीं तो रूपकातिशयोक्ति के परोक्ष रूप में ही। परन्तु उन्होंने ऐसा कुछ किया नहीं—'लोना सोइ जहाँ मसि-रेखा।' तथा 'अस देवपाल राय मसि' मे 'मसि' के द्वारा यह व्यक्त अवश्य कर दिया कि देवपाल की चढ़ती हुई जवानी है। अभी मसि भीन रही है। उसने समझा था कि यही देवपाल का नाम लेने का अवसर है। सोचा तो ठीक था किन्तु सती को पहचानने में उससे भूल हुई। फलतः उसका विकट परिणाम भी भोगना पड़ा। पद्मिनी ने तो पहले ही उससे स्पष्ट कह दिया था—

'रतन छुआ जिन्ह हाथन्ह सेंती। और न छुवौं सो हाथ सँकेती ॥
ओहि के रंग भा हाथ मँजीठी। मुकुता लेउँ तौ घुँघची दीठी ॥'

—पृष्ठ ३०६।

किन्तु कुमुदिनी को इसकी दूर तक फैली हुई गहरी, अत्यन्त ऊँची व्यंजना का बोध नहीं हुआ, वह नहीं समझ सकी कि मन से ही नहीं, शरीर और वचन

से भी यह तन रत्नसेन का इतना हो चुका है कि अब उस पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता। भला, जिस हाथ में जाने पर मुक्ता भी घुँघची का रूप धारण कर लेती है वह भला किसी के हाथ में कब पड़ सकती है और उसके रत्न की तुलना कौन कर सकता है! जायसी का अलंकार विधान बहुत ही रम्य और प्रसंग के अनुकूल हुआ है। जायसी अप्रस्तुत की योजना में वहीं चूकते हैं जहाँ कुछ अनमेल को मेल में लाकर दिखाना चाहते हैं। अन्यथा छोटे छोटे रूपक भी उनके बहुत ही अच्छे हुये हैं। हाथी, घोड़ा आदि के चित्रण में भी जायसी को सच्ची सफलता मिली है। विरोध के रूप मे जायसी ने अपने सिद्धान्त को भी जहाँ तहाँ दिखाया है।

जायसी की कथा, जायसी के काव्य और जायसी की साधना का भी थोड़ा बहुत लेखा लग गया। अब जायसी के अध्यात्म अथवा प्रतिबिम्बवाद को भी भी थोड़ा देखना चाहिए। जायसी ने अपने सिद्धान्त और अपनी साधना को 'अखरावट' में इस प्रकार खोल कर रख दिया है कि उनके सम्बन्ध मे किसी प्रकार विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं। तो भी देखना यहाँ यह चाहिये कि उन्होंने इनका निर्वाह अपनी कथा में किस प्रकार किया है। सारी कथा को उन्होंने किस रूप में देखा है, इसको उन्होंने स्वतः कथा के उपसहार में कह दिया है और हमने उसका निर्वाह भी कथा में देख लिया है। सो, अब हमें उनके प्रतिबिम्बवाद को देखना चाहिये। प्रतिबिम्बवाद का आशय यह है कि यह जगत् तो दर्पणमात्र है। इसमें जो कुछ दिखाई देता है वह पर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही है, जिसको हम देखते तो हैं पर अपना नहीं पाते। फलतः अलाउद्दीन सचेत हो कहता है—

'देखि एक कौतुक हौ रहा। रहा अँतरपट, पै नहिं अहा॥
सरवर देख एक मैं सोई। रहा पानि, पै पान न होई॥
सरग आइ धरती महँ छावा। रहा धरति, पै धरत न आवा॥
तिन्ह महँ पुनि एक मंदिर ऊँचा। करन्ह अहा, पै कर न पहूँचा॥
तेहि मंडप मूरति मैं देखी। बिनु तन, बिनु जिउ जाइ बिसेखी॥

पूरन चंद होइ जनु तपी। पारस रूप दरस तेहि छपी॥

पृष्ठ—२९२-३।

जिस पारस रूप की झलक से अलाउद्दीन अन्धा हो गया और जिसके पाने के लिये भाँति भाँति से उपाय रचता रहा, उसी पारस रूप के प्रसाद से हुआ यह—

'कहा मानसर चाह सो पाई। पारस-रूप इहाँ लगि आई॥
भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे। पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय-समीर बास तन आई। भा सीतल, गै तपनि बुझाई॥
न जनौं कौन पौन लेइ आवा। पुन्य-दसा भै, पाप गँवावा॥
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद विहँसाना॥
बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा। भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा॥
पावा रूप रूप जस चहा। ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर॥ ८॥

पृष्ठ—२९-३०।

जिस पारस रूप की छटा इस प्रकार प्रकृति में फैल गई है उसी की चिन्ता में वह छटा लीन भी है। वह वियोग से जल रही है और अपने मूल में मिल कर ही रस लेना चाहती है। यही कारण है कि जायसी को जहाँ कहीं जिस किसी का वियोग मिलता है उसमें इसकी व्यंजना कर जाते हैं और अपने कथानक में यत्र-तत्र अपनी रहस्य-भावना का बोध भी करा जाते हैं, जिसको किसी पात्र-विशेष में ही सीमित कर लोग भटक जाते हैं, भड़क उठते हैं और जायसी पर तरह तरह के आक्षेप करते हैं। स्मरण रहे, जायसी विनोदी नहीं, विलासी नहीं, विरह-विदग्ध व्यक्ति हैं, उनको चारों ओर वही वह दिखाई देता है जिसको पाने के हेतु उनका जी तड़पता है और जिसकी प्राप्ति के निमित्त ही उनको यह परिधान मिला है जिसे शरीर कहते हैं। जायसी का प्रियतम कोई पात्र नहीं, प्रेमी का प्रिय है फिर

चाहे वह जिस किसी का जो कोई हो। जायसी उसमें अपना प्रियतम ढूँढ़ निकालते हैं।

अस्तु, जायसी और कबीर की साधना में सब से बड़ा भेद यह है कि जायसी जहाँ अपनी भावना को रहस्य का रूप देते हैं वहाँ कबीर अपने वाद को। एक भावना-प्रिय प्राणी है तो दूसरा वाद-प्रिय द्रष्टा। कबीर ने क्या देखा इसे थोड़े ही लोग देख पाते हैं किन्तु जायसी ने जो देखा वह सबके सामने है। कबीर का पुरुष शून्य महल में रहा पर जायसी का प्रियतम कण कण में अपनी झाँकी दिखाता रहा। इसका यह अर्थ नहीं कि कबीर ने कण कण में उस परम पुरुष को नहीं देखा। देखा और अवश्य देखा किन्तु बताने के लिये ही, रमाने के लिये नहीं। कबीर कहते हैं, जायसी दिखाते हैं यही कारण है कि कबीर का रहस्य 'वाद' के रूप में हमारे सामने आता है और उसमें हठयोग या साधना की बातें इतनी आ जाती हैं कि हम उन्हें गणित का अंश समझते अथवा तत्त्वों और शरीर-विज्ञान की वस्तु मानते हैं। जायसी ने भी हठयोग की साधना को अपनाया है। उन्होंने भी चन्द्र, सूर्य, इला, पिंगला, सुषुम्ना आदि का उल्लेख किया है किन्तु स्वतंत्र रूप से नहीं गढ़ और पिंड के रूप में ही। इसका फल यह हुआ है कि हम उसमें उलझते नहीं। उसको पकड़ कर आगे बढ़ जाते हैं। तो भी हमें मानना पड़ता है किस इस प्रवृत्ति के कारण जायसी की कथा भी कहीं कहीं उखड़ जाती है और उनकी रचना भी दुरूह हो जाती है।

कबीर और जायसी में एक बात और भी विचारणीय है। कबीर में उदारता नहीं, प्रखरता है। उन्हें सभी बातों में रस नहीं मिलता। उनको तो बहुत सी बातों को जड़-मूल से मिटा देना है। इस मिटाने की चिन्ता में जो कुछ उनके मुँह से निकलता है वह ईशप्रेरणा से नहीं, 'पाँड़े' या 'शेख' के प्रपंच से। इस प्रपंच से जन को मुक्त करने के लिये जो ठान ठनती है उसमें कबीर अपने पक्ष को स्पष्ट रखने की वैसी चिन्ता नहीं करते जैसी कि विपक्ष को निर्मूल करने वा उखाड़ने की। सारांश यह कि हम कबीर में राग और द्वेष दोनों को प्रबल रूप में पाते हैं। परन्तु जायसी में यह बात नहीं है। उनमें राग की ही प्रधानता है।

द्वेष तो कहीं प्रसंग पाकर पनप जाता है, नहीं तो उसको मिटाने की ही चिन्ता में जायसी मग्न रहते हैं। कबीर में हठ, प्रेम, भक्ति और उपदेश है। जायसी में भी हठयोग है, प्रेम, है, उपदेश है पर कोरे रूप में नहीं, प्रसंग के भीतर। जायसी सभी को रसमय बना रम्य रूप में रँगना चाहते हैं। उनको काव्य का रूप देना है, कबीर को इसकी क्या पड़ी है कि वह श्रोता की रुचि का भी कुछ ध्यान रक्खें और लगती हुई बात खरे रूप में फटी बोली में न कहें। कबीर और जायसी में यह भी बड़ा विभेद है कि जायसी सामाजिक के हृदय में घर करना चाहते हैं और कबीर राज। निदान, दोनों की रहस्य-भावना भी भिन्न भिन्न ढर्रे पर चलती रही है और दोनों का सम्मान भी भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भिन्न भिन्न रूप में हुआ है। कबीर को सुनने में किसी संप्रदाय को रस मिलता है तो जायसी को समझने में सबको। कबीर सुलभ हैं, सहज नहीं। जायसी सहज हैं सुलभ नहीं। इसी से उनका प्रचार भी कम है।

५—मीराँ ।

पद्मिनी की लपट और मीराँ की लिपट में जो रस है वह अभूत और अनुपम है। पद्मिनी ने जो कुछ किया वह इतिहास से साहित्य तक छा गया और मीराँ ने जो कुछ कहा वह घर घर फैल गया। मीराँ है तो नाम पर वह सामने आता है प्रतीक के रूप में ही। प्रेम-साधना के रूप का नाम ही मीराँ है। मीराँबाई की निरुक्ति में विद्वानों में जो मुठभेड़ हुई है उसका परिणाम क्या होगा यह नहीं कहा जा सकता। तो भी, इतना तो निश्चित ही है कि उससे मीराँ की मीरता में कोई अन्तर नही आ सकता। मीराँ न सही, मीराँ जैसे नामो की राजस्थान में कमी नहीं। मीराँ के पहले भी मीराँ जैसे अनेक नाम राजस्थान में पाये जाते हैं जिनमें बीराँ मुख्य है। मीराँ को किसी मीराँ फकीर का प्रसाद समझना भी ठीक नहीं। मीराँबाई का अर्थ परमात्मा की पत्नी समझना ठीक है। स्थिति जो रही हो, मीराँबाई का नाम मीराँ के रूप में चल निकला। वह संस्कृत हो चाहे फारसी, अरबी हो चाहे ठेठ, पर है बहुत ही प्रचलित और आज का अत्यन्त प्रिय नाम। निश्चय ही यह मीराँ का ही प्रसाद है। यदि मीराँ न होती तो मीराँ नाम भी इतना प्रिय और प्रचलित न होता। वैसे होने को तो वह भी 'बीराँ' की भांति ही होता रहता।

मीराँबाई के विषय में कुछ न कुछ बहुतों ने कहा है। भक्तमाल तथा उसकी टीका मे उनके सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसका थोड़ा बहुत परिचय बहुतो को है। परन्तु कृष्णगढ़ के नागरीदास ने उनके बारे में अपनी पद-प्रसंगमाला में जो कुछ लिखा है उसे बहुत से लोग नहीं जानते। संक्षेप में वह यह है—

"राना को छोटो भाई मीराँ को देहसंबंध को भर्ता हो, सो ताको परलोक भयो, ता पीछैं मीराँबाई गंगादिक तीरथ करिकैं अरु वृंन्दावन हू आये, तहाँ जीऊ

गुसांईंजू को प्रण स्त्री के न देषिवे को छुटाय सबसौं गुरुगोविंदवत सनमान सत्संग करि द्वारिका को चले, ऊहाँ बास करिबे कैं लियैं तहाँ एक मारग मैं नयो पद बनायो, बहुत प्रसिद्ध भयो, सो वह यह पद,

राय श्रीरनछोड दीज्यो द्वारिका को बास ॥
संख चक्र गदा पद्म दरसैं मिटैं जम की त्रास ॥
सकल तीरथ गोमती के रहत नित्त निवास ॥
संष झालर झाँझ बाजैं सदा सुष की रास ॥
तज्यो देसरू बेस हू तजि तज्यो राना राज ॥
दास मीराँ सरन आवत तुझैं अब सब लाज ॥ ३ ॥

पुनः प्रसंग। सो या भांति मनोरथ करत यह पद गावत द्वारिका पहुँचे, तहा कोई दिन रहे ता पीछैं मीराँबाई के सग प्रौहितादिक जे राना के लोक हे, तिन कह्य अब बहुत दिन भये हैं अब देस को चलो, राना की आग्या हैं, अैसैं द्वै तीन दिन तो कह्यो, फिरि मीराँबाई परि धरनां कियो, तब मीराँबाई ठाकुर श्रीरनछोडजूसो बिदा ह्वैबे को नॉव लैं मंदरि मैं अकेले ही जाय महाआरति सहित एक नयो पद बनाय गायो, सो वह यह पद।

हरि करिहो जन की भीर ॥
द्रोपदा की लाज राषी तुम बढ़ायो चीर ॥
भक्ति कारन रूप नरसिंघ धरयो आप सरीर ॥
हरिनकस्यप मारि लीनो धरयो नाहिंन धीर ॥
बूड़तैं गज ग्राह तारयो कियो बाहिर नीर ॥
दास मीराँ लाल गिरधर दुष जहाँ तहाँ पीर ॥ ४ ॥

सो यह पद गायें हू उत तैं न ढरे, तब महाआरति प्रेमावेस सहित एक और पद बनाय गायो तबही ठाकुर आपमैं उनको याही सरीर तैं लीन करि लीनें देह हू न रही, सो जा पद के गायें लीन भये, सो वह यह पद ॥

सजन सुधि ज्यो जानैं ज्यौं लीजैं ॥
तुम बिन मेरैं और न कोई कृपा रावरी कीजैं॥

द्यौस न भूष रैन नहि निद्रा यह तन पल पल छीजैं ॥
मीरां प्रभु गिरधर नागर अब मिलि बिछुरनि नहि कीजैं ॥ ५ ॥

सो ये दोऊ पद निकट द्वार कैं इनकी पर्मचतुर वैष्णव सषीन कंठ करि लीनैं, तथा लिषि लीने ते प्रसिद्ध भये ॥ ५ ॥

(नागर समुच्चय, पृ० १९४–५, ज्ञानसागर प्रेस, मुंबई सन १८९८)

नागरीदास ने मीराँ के देह सम्बन्ध के भर्ता को जो राणा का छोटा भाई कहा है वह ठीक नहीं जँचता। कारण कि स्वयं मीराँ का एक पद है—

'मीराँ के रंग लग्यो हरी को और रंग सब अटक परी ॥
गिरधर गास्यां सती न होस्यां मन मोह्यो घन नामी ॥
जेठ बहू को नातो नहीं राणा जी थे सेवग म्हे स्यामी ॥
चूडो दोवडो तिलक जु माला सीलवर्त सिंगार ॥
और सिंगार भावैं नहीं राणाजी यौ गुर ग्यान हमार ॥
कोई निंदो कोई बिंदो गुण गोविंद रागास्यां ॥
जिण मारग वैं संत पहूँता तिण मारग म्हे जास्यां
जोरी करांन जीव संतां वांकांई करसी म्हारो कोई ॥
हसती चढि गधैं नहीं चढां यातो बातन होई ॥
राज करंता नरक पडेसी भोगीडा जम कैलीया ॥
भगत करंता मुक्त पहूंता जोग करंता जीया ॥
गिरधर धणी कडूंबो गिरधर मात पिता सुत भाई ॥
थे थांहरैं म्हे म्हांहारैं राणा जी यौ कहैं मीरांबाई ॥ १ ॥

—वही, पृ०—१९३-४।

इस पद में 'जेठबहू' का जो निर्देश हुआ है वह जेठ और बहू का नहीं कहा जा सकता उसका अर्थ तो जेठ बहू ही साधु ठहरता है। इतिहास की बात अलग रखिये, किसी हरिदास का कहना है—

'एक राणी गढ चीतोड़ा की

मेड़तणी निज भगति कुमावै भोजराइजी का जोड़ा की।
हिमरू मिसरू साल दुसाला बैठण गादी मोड़ा की।
असा सुख छाड़ि भयी वैरागिणि सादी नरपति जोड़ा की।
साइण वाइण रथ पालकी कमी न हसती घोड़ा की।
सब सुख छाड़ि छनक मैं चाली लाली लगायी रण छोणा की।
ताल बजावै गोविंद गुण गावै लाज तजी वड-ल्होड़ा की।
निरति करै नीकां होइ नाचै भगति कुमावै बाई चोड़ा की।
नवा-नवा भोजन भांति-भांति का करि हैं सार रसोड़ा की।
करि करि भोजन साथ जिमावै भाजी करत गिदोडा की।
मन धन सिर साधाँ कै अरपण प्रीति नहीं मन थोड़ा की।
हरीदास, मीरा वडभागणि सब राणा सिर मोड़ा की।'

—राजस्थानी, जनवरी १९३९, पृ० ४८।

हरीदास ने जो भोजराज को मीराँ का जोड़ा कहा है सो इतिहास से सिद्ध होता है और इस 'जेठ बहू' के रहस्य को भी खोल देता है। सचमुच मीराँ राणा साँगा की 'जेठ बहू' अथवा बड़ी पतोहू थीं जो उनके जीवन-काल में ही विधवा हो गई थीं। भोजराज के साथ मीराँ का जीवन कैसा रहा, इसका कोई सच्चा प्रमाण नहीं। प्रियादास की टीका तो आरम्भ से ही मीराँ को कुछ और ही रूप में अंकित करती है और गृहस्थ-जीवन में भी उनके भक्त रूप को ही खुलकर प्रकट करती है। मीराँ ने जो कुछ कहा है उससे भी इसका पता नहीं चलता कि उनका यह जीवन कैसा रहा। सच तो यह है कि मीराँ ने अपने आपको परम पति में ऐसा रमा दिया कि फिर उनको किसी लौकिक पति की सुधि ही न रही और वह अन्त में उसी में समा गई।

हाँ, मीराँ का एक ऐसा पद उपलब्ध हुआ है जिससे इसकी सम्भावना सामने आ जाती है। मीराँ कहती हैं—

'हेली, मो सों हरि बिन रह्यौ न जाय

सासू लड़ै री, सजनी, नणद खिजै री,
पीव किन रहै री रिसाय।
चौकी भी मेलै, सजनी, पहरा भी मेलै,
ताला क्यूँ न जड़ाय।
पूरब जनम की प्रीत हमारी, सजनी,
सो क्यूं रहै री लुकाय।
मीराँ के तो, सजनी, राम सनेही
और न आवै म्हारी दाय।

(राजस्थानी, अक्टूबर १९ ३९, पृ० ६५)

इसमें 'पीव' शब्द का जो व्यवहार हुआ है वह निश्चय ही लौकिक पति का ही द्योतक है और इससे यह भी प्रकट होता है कि 'पिय' के रिसाने की बात सास और ननद के उपरान्त ही है। अवगत तो ऐसा होता है कि मीराँ की सखी उनको सचेत करती है और भविष्य की आशंका का उल्लेख कर उनको सावधान करना चाहती है। उत्तर में मीराँ की व्यवस्था प्रकट होती है। फिर भी, इसी के आधार पर निश्चित रूप में अधिकार के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः यही वस्तु-स्थिति भी है। कारण कि इसका दूसरा पाठ यह भी दिया गया है—

हेली म्हाँसूँ हरि बिनि रह्यो न जाय ॥ टेक ॥
सास लड़ै मेरी ननद खिजावै, राणा रह्या रिसाय।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठारयो, ताला दियो जड़ाय।
पूर्व जनम की प्रीत पुराणी, सो क्यूँ छोड़ी जाय।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, और न आवे म्हाँरी दाय ॥

—मीराँबाई की पदावली, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ० २४।

हमारी दृष्टि में 'पीव' के स्थान पर राणा और भविष्य के स्थान पर भूतकाल का प्रयोग संशोधन का परिणाम है। अन्यथा इस पदकी संगति जैसी 'पीव' के

साथ बैठती है वैसी राणा के साथ नहीं। पति के प्रति पत्नी का कैसा व्यवहार होना चाहिये इसके सम्बन्ध में मीराँ का विचार यह है—

आवो सहेल्या रली कराँ हे, पर घर गवण निवारि।
झूठा माणिक मोतिया रो, झूठी जगमग जोति।
झूठा सब आभूषणा री, साँची पियाजी री पोति।
झूठा पाट पटम्बरा रे, झूठा दिखणी चीर।
साँची पियाजी री गूदड़ी, जामे निरमल रहे सरीर।
छप्पन भोग बुहाइ दे हे, इन भोगनि में दाग।
लूण अलूणो ही भलो हे, अपणे पियाजी को साग।
देखि विराणै निवाँण कूँ हे, क्यूँ उपजावे खीज।
कालर अपणो ही भलो हे, जामें निपजै चीज।
छैल विराणो लाख को हे, अपणो काज न होइ।
ताके सँग सीधारताँ हे, भला न कहसी कोइ।
वर हीणो अपणो भलो हे, कोढी कुष्टी कोइ।
जाके सँग सीधारताँ हे, भला कहै सब लोइ।
अविनासी सूँ बालवा हे, जिनसूँ साँचो प्रीत।
मीराँ कूँ प्रभु मिल्या हे, एही भगति की रीत॥ २५॥

—पदावली, पृ० १३।

मीराँबाई का पतिसे कभी कोई संघर्ष हुआ, इसका पता नहीं। पर सास ननद से जो द्वन्द्व छिड़ा वह मीरा के पदों में प्रस्फुट है—

मीरा—म्हाँना गुरु गोविंद री आणा, गोरल ना पूजाँ।
सास—ओरज पूजै गोरज्या, जी थे क्यूँ पूजो न गोर।
मन बंछत फल पावस्यो जी, थे क्यूँ पूजो ओर।
मीराँ—नहिं हम पूज्याँ गोरज्याँ जी, नहिं पूजाँ अनदेव।
परम सनेही गोविंदो, थे काँई जानो म्हाँरो भेव।
सास—बाल सनेही गोविंदो, साधु सन्ताँ को काम।

थे बेटी राठोड़ की, थाँने राज दियो भगवान ।
मीराँ—राज करे ज्याताँ करणे दाज्यो, मैं भगतारी दास ।
सेवा साधू जनन की, म्हाँरे राम मिलण की आस ।
सास—लाजै पीहर सासरो, माइतणो मोसाल ।
सबही लाजै मेड़तिया जी, थाँसू बुरा कहे संसार ।
मीरा—चोरी करों न मारगी, नहिं मैं करूँ अकाज ।
पुन्नके मारग चालताँ, झक मारो संसार ।
नहिं मैं पीहर सासरे, नहीं पियाजी री साथ ।
मीराँ ने गोबिंद मिल्याजी, गुरु मिलिया रैदास ॥ २९ ॥

—पदावली, पृ० १५-१६ ।

गुरु रैदास के विषय में कुछ कहने के पहले कुछ भाभी और ननद की बातचीत को भी देख लेना चाहिये । ननद ऊदाबाई कहतीं हैं—

ऊदाबाई—'थाँने बर बरज बरज मैं हारी, भाभी मानो बात हमारी ।
राणे रोस कियो थाँ ऊपर, साधों में मत जारी ।
कुल को दाग लगै छै भाभी निन्दा हो रही भारी ।
साधों रे सँग बन बन भटको, लाज गमाई सारी ।
बड़ा घर थे जनम लियो छै, नाचो दे दे तारी ।
बर पायो हिंदवाणै सूरज, थे काँई मनधारी ।
मीराँ गिरधर साध सँग तज, चलो हमारी लारी ।

भाभी मीराँबाई का समाधान है—

मीराँबाई—मीराँ बात नहीं जग छानी, ऊदा समझो सुघर सयानी ।
साधू मात पिता कुल मेरे, सजन सनेही ग्यानी ।
संत चरण की सरण रैन दिन, सत्त कहतहूँ बानी ।
राणा ने समझावो जावो, मैं तो बात न मानी ।
मीरों के प्रभु गिरधर नागर, संतों हाथ बिकानी ॥३०॥

—पृ० १६ ।

परिणाम यह हुआ कि :—

'मेरो मन लागो हरिसूँ, अब' न रहूँगी अटकी।
गुरु मिलिया रैदासजी, दीन्हीं ग्यान की गुट की।
चोट लगी निज नाम हरी की, म्हाँरे हिवड़े खटकी।
मोती माणिक परत न पहिरूँ, मैं कबकी नटकी।
गेणो तो म्हाँरे माला दोवड़ी, और चंदन की कुटकी।
राज कुल की लाज गमाई, साधाँ के सँग मैं भटकी।
नित उठ हरिजी के मंदिर जास्याँ, नाच्याँ दे दे चुटकी।
भाग खुल्यो म्हाँरो साध सँगत सूँ, साँवरिया की बटकी।
जेठ बहू की काण न मानूं, घूँघट पड़ गई पट की।
परम गुराँ के सरण में रहस्याँ, परणाम कराँ लुटकी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, जनम मरण सूँ छुटकी' ॥२४॥

—पृ० १२-३।

नित्य प्रति हरिजी के मंदिर में जाने और चुटकी दे दे कर नाचने का फल यह हुआ कि—

'सतगुरजी सूँ बातज करताँ, दुरजन लोगाँ ने दीठी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, दुरजन जलो जा अँगीठी' ॥३६॥

—पदावली, पृ० २०।

होते होते हुआ यह कि मीराँ की भाँति भाँति की यातना हुई :—

'राणाजी म्हाँरी प्रीति पुरबली मैं काँई करूँ ॥ टेक ॥
राम नाम बिन घड़ी न सुहावे, राम मिले म्हाँरा हियरा ठराय।
भोजनियाँ नहिं भावे म्हाँने, नींद लड़ी नहिं आय।
विष को प्यालो भेजियोजी, जावो मीरा पास।
कर चरणामृत पी गई, म्हाँरे रामजी के विस्वाश।
छापा तिलक बनाविया जी, मन में निरचय धार।
रामजी काज सँवारिया, म्हाँने भावे गरदन मार।

पेटयाँ बासक भेजियाजी, यो छै मोती डाँरो हार।
नाम गले में पहिरिया, म्हाँरे महलाँ भयो उजार।
राठौडाँरी धीयड़ी जी, सीसोद्याँरे साथ।
ले जाती बैकुंठ कूँ, म्हाँरी नेक न मानी बात।
मीराँ दासी रामकी जी, राम गरीब निवाज।
जन मीराँको राख ज्यो, कोई बाँह गहेकी लाज॥ ४२॥

—पदावली. पृ० २२–३

अन्त में जब कोई उपाय शेष न रहा तब चित्तौड़ छोड़कर पीहर का हो रहना पड़ा। इसे भी मीराँ के शब्द में ही सुन लेना चाहिये—

'अब नहिं बिसरूँ, म्हाँरे हिरदे लिख्यो हरि नाम।
म्हाँरे सतगुरु दियो बताय, अब नहिं बिसरूँ रे॥ टेक॥
मीरा बैठी महल में रे, ऊठत बैठत राम।
सेवा करस्याँ साध की, म्हाँरे और न दूजा काम।
राणा जी बतलाइया, कह देणो जबाब।
पण लागो हरिनाम सूँ, म्हाँरो दिन दूनो लाभ।
सीप भऱ्यो पाणी पिवे रे, टाँक भऱ्यो अन्न खाय।
बतलायाँ बोली नहीं रे, राणो जी गया रिसाय।
विष रा प्याला राणा जी भेज्या, दीजो मेड़तणी के हाथ।
कर चरणामृत पी गई, म्हाँरा सबल धणी का साथ।
विष को प्यालो पी गई, भजन करे उस ठौर।
थाँरा मारी ना मरूँ, म्हाँरो राखण हारो और।
राणोजी मोपर कोप्यो रे, मारूँ एक न सेल।
मार्‌याँ पराछित लारा सी, म्हाँने दीजो पीहर मेल।
राणो मोपर कोप्यो रे, रती न राख्यो मोद।
ले जाती बैकुंठ में, यो तो समझ्यो नहीं सिसोद।
छापा तिलक बनाइया, तजिया सब सिंगार।

म्हें तो सरणे राम के, भल निन्दो संसार।
माला म्हांरे देवड़ी, सील बरत सिंगार।
अब के किरपा कीजियो, हूँ तो फिर बाँधू तलवार।
रथाँ बैल जुताय कै, ऊटाँ कसियो भार।
कैसे तोडूँ राम सूँ, म्हॉरो भाभो रो भरतार।
राणो साँड्यो मोकल्यो, जाज्यो एके दौड़।
कुल की तारण अस्तरी, या तो मुरड़ चली राठौड़।
साँड्यो पाछो फेर्‌यो रे, परत न देस्याँ पाँव।
कर सूरापण नीसरी, म्हाँरे कुण राणे कुण राव।
संसारी निन्दा करे रे, दुखियो सब ससार।
कुल सारो ही लाजसी, मीरा थें जो भया जीखवार।
राती माती प्रेम की, विष भगत को मोड़।
राम अमल माती रहे, धन मीरा राठौड़।

—पदावली पृ० ४७।

मीराँ का जीवन फिर किस प्रकार बीता इसकी चिन्ता में पड़ने के पहले जान यह लेना चाहिये कि वास्तव में यह गुरु रैदास हैं कौन? हमने अन्यत्र (विचार विमर्श में) इसका विचार किया है थोड़े में यहाँ यही कहना है कि हमारी दृष्टि में मीराँ के यह गुरू रैदास वही हैं जिनके सम्बन्ध में नाभादास ने भक्तमाल में यह कहा है—

बीठलदास हरिभक्ति के, दुहूँ हाथ लाडू लिये॥
आदि अंत निबाह भक्तपद रजव्रतधारी।
रह्यो जगत सों ऐंड़, तुच्छ जाने संसारी॥
प्रभुता पति की पधति प्रगट कुल दीप प्रकासी।
महत सभा में मान जगत जानै रैदासी॥
पदपढ़त भई परलोक गति, गुरु गोविंदजुग फल दिये।

—बीठलदास।

मीराँ का संत मत के प्रभाव में आ जाना इसी सतगुरू का प्रसाद है। अन्यथा मीराँ का प्रेम शुद्ध गिरधर गोपाल से ही है और मोर मुकुटधारी गोपाल ही उनके यथार्थ पति हैं। रैदास से उनको जो ज्ञान मिला वह यह था—

मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी।
जब जब सुरत लगे वा घर की, पल पल नैनन पानी।
ज्यों हिये पीर तीर सम सालत, कसक-कसक कसकानी।
रात दिवस मोहि नींद न आवत, भावै अन्न न पानी।
ऐसी पीर बिरह तन भीतर, जागत रैन बिहानी।
ऐसा बैद मिलै कोई भेदी, देस बिदेस पिछानी।
तासों पीर कहूँ तन केरी, फिर नहिं भरमों खानी।
खोजत फिरों भेद वा घर को, कोई न करत बखानी
रैदास संत मिले मोहि सतगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी।
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मोरी पीर बुझानी।
मीरा खाक खलक सिर डारी, मैं अपना घर जानी।

—पदावली पृ० १५९।

प्रसंगवश इतना और जान लेना चाहिये कि रैदासी मत सगुण के उतना प्रतिकूल न था जितना कबीरी मत। और मीराँ का सम्बन्ध तो बचपन से ही गिरधर गोपाल से था। मीराँ के बारे में जो यह अति प्रसिद्ध है कि उनकी माता ने उनके आग्रह पर उनसे कह दिया था कि तुम्हारा विवाह इसी गिरधरन की मूर्ति से होगा वह मीराँ के इस कथन से भी साधु ठहरता है—

स्याम तेरी आरति लागी हो।
गुरु परतापे पाइया, तन दुरमति भागी हो॥ टेक॥
या तन को दियना करों, मनसा करौ बाती हो।
तेल भरावों प्रेम का, वारों दिन राती हो।
पाटी पारों ज्ञान की, मति माँग सँवारों हो।

तेरे कारन साँवरे, धन जोबन वारों हो।
या सेजिया बहु रंग की, बहु फूल बिछाये हो।
पंथ मैं जो हौं स्याम का, अजहूँ नहिं आये हो।
सावन भादो ऊमड़ो, बरषा रितु आई हो।
भौंह घटा घन घेरि के, नैनन झरि लाई हो।
मात पिता तुमको दियो, तुम ही भल जानो हो।
तुम तजि और भतार को, मन में नहिं आनों हो।
तुम प्रभु पूरन ब्रह्म हो, पूरन पद दीजै हो।
मीराँ व्याकुल बिरहनी, अपनी करि लीजै हो।

—पदावली पृ० १२९।

इससे विदित होता है कि मीराँ को गुरु रैदास से जो उपदेश मिला था, वह गोपाल कृष्ण की आराधना के प्रतिकूल नहीं था। हाँ, इतना अवश्य था कि उसमें हठयोग का भी विधान था। मीराँ के पदों में जो 'सुरति' 'शून्य' आदि का उल्लेख मिलता है, उसका कारण भी यही है।

मीराँ पर वल्लभ सम्प्रदाय का भी कुछ प्रभाव पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं। परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि मीराँ ने कभी इस सम्प्रदाय को नहीं अपनाया। 'वैष्णवन की वार्ता' से प्रकट तो यह होता है कि वल्लभसम्प्रदाय के लोग मीराँ से खार खाये बैठे थे और उनको गालियाँ तक दे जाते थे। 'दरी राँड़' का प्रयोग कर जाना इसी मनोवृत्ति का द्योतक है। इसका कारण कदाचित् यह कहा जा सकता है कि मीराँ की साधना कृष्णचैतन्य के ढंग पर चल रही थी और कृष्ण-चैतन्य के अनुयायियों से गोस्वामी बिट्ठलदास की कुछ चल पड़ी थी। मीराँ के एक पद में कृष्ण-चैतन्य का नाम भी आया है—

अब तौ हरी नाम लौ लागी।
सब जग को यह माखन चोरा, नाम धर्यो बैरागी॥
कित छोड़ी वह मोहन मुरली, कहँ छोड़ी सब गोपी।
मूँड़ मुड़ाइ डोरि कटि बाँधी, माथे मोहन टोपी॥

मात जसोमति माखन कारन, बाँधे जाको पाँव।
स्याम किसोर भयो नव गोरा, चैतन्य जाको नाँव॥
पीताम्बर को भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै।
गौर कृष्ण की दासी मीरा, रसना कृष्ण बसै॥

(पदावली, पृ०-१०१)

मीराँ की पूजा पद्धति कुछ वल्लभ कुल से भलेही प्रभावित हुई हो, किन्तु उनकी कीर्तन-प्रणाली तो सर्वथा गौरांग महाप्रभु के ही अनुकूल थी और इनकी इह-लीला की समाप्ति भी बहुत कुछ उन्हीं के ढग पर हुई।

मीराँ के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा गया उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि मीराँ का जन्म राठौर कुल में हुआ था और उनका विवाह हुआ था सीसौदिया वंश में। मीराँ मेड़ता की थीं इसमें भी कोई सन्देह नहीं क्योंकि इसीके नाम पर उनका नाम, ससुराल में चला था और मीराँ के पदों मे भी इसका बार बार उल्लेख होना यही सिद्ध करता है। मीराँ ने अपने जन्म के विषय में स्वयं कहा है—

'क्षत्री बंस जनम मम जानो, नगर मेड़ते वासी'

—(नरसी जी रो माहेरो)

मीराँ के जन्म-स्थान और पूर्वजों के बारे में किसी प्रकार का मत भेद नहीं है। यदि मतभेद है तो उनके जन्म और निधन की तिथियों में। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत है कि मीराँ का जन्म संवत् १५५५ के लगभग कुड़की ग्राममें हुआ और संवत् १५७३ के लगभग उनका विवाह महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से हुआ और संवत् १५८० के पहले ही किसी समय युवराज भोजराज का देहान्त भी हो गया। राणा साँगा के निधन के उपरान्त मीराँ कितने दिन तक चित्तौड़ में रहीं और कितने दिन तक मेड़ते में, आदि प्रश्नों पर अन्यत्र विचार किया गया है। अतएव यहाँ संक्षेप में इतना ही कहा जाता है कि मीराँ की निधन-तिथि भी श्री

ओझाजी संवत् १६०३ ही मानते हैं। मीराँ के पदों से इतना तो प्रतीत होता है कि मीराँ के काले बाल पाडुर हो गये थे किन्तु ऐसा ध्वनित नहीं होता कि उनकी अवस्था बहुत अधिक हो गई थी। वृद्धावस्था का उन्होंने कहीं विशेष संकेत भी नहीं किया है। केशों के सम्बन्ध में उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—

'अवधि बदीती अजूँ न आए, पडर होइ गया केस।'

—पदावली, पदसंख्या १२१।

तो दूसरे स्थल पर इतना और भी कहा है—

'मीराँ दासी भईं हैं पडर, पलटया काला केस।'

—पदावली, ९७।

ऐसी स्थिति में यह उचित प्रतीत होता है कि हम उक्त तिथियों को बहुत कुछ ठीक समझ लें। मीराँ पर जो सकट पड़ा वह उन्हीं तक नहीं रहा। चित्तौड़ और मेड़ते दोनों पर संकट पड़ते ही रहे। मीराँ चित्तौड़ से ऊब कर मेड़ता पहुँची, पर जब मेड़ता भी उनके सम्बन्धियों के हाथ से निकल गया तब उनको वृन्दावन की सूझी हो तो इसमें आश्चर्य नहीं। वृन्दावनसे मीराँ कहाँ कहाँ गईं इसका लेखा यहाँ नहीं दिया जा सकता। द्वारिका में उनका किस प्रकार लोप हुआ और वृन्दावन में उन्होंने क्या किया इसका उल्लेख पहले हो चुका है। सक्षेप में यही मीराँ की जीवनी है। मीराँ की रचना से इतना और भी सिद्ध होता है कि इनकी ननद का नाम ऊदाबाई था जो ईडर में ब्याही गई थीं और इनकी सखी का नाम मिथुला था जिसे इन्होंने 'नरसीजी रो माहेरो' सुनाया था। इनके पिता रत्नसिंह का देहान्त संवत् १५८४ में बाबर से लड़ते समय हो गया था। इनके चचेरे भाई वीरमदेव और उनके उपरान्त जयमल का इनसे विशेष स्नेह था और जयमल तो ऐसे भक्त हुए हैं कि उनका उल्लेख भी भक्तमाल में हुआ है।

मीराँ के अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई उनकी भक्ति-भावना में होती है। मीराँ अपने इष्टदेव के अतिरिक्त किसी देव की उपासना नहीं करती थीं, अथवा किसी और देवता की पूजा नहीं चाहती थी ऐसा कहा जाता है और उनकी छाप

के किसी किसी पद में ऐसा पाया भी जाता है; परन्तु यह सर्वथा साधु नहीं प्रतीत होता। पहले तो हम यह देखते हैं कि "नरसीजी रो माहेरो" के श्री गणेश में ही मीराँ कहती हैं—

'गनपति कृपा करो गुण सागर, जनको जस सुभ गाय सुनाऊँ !' दूसरे उनका एक पद भी है जिससे सिद्ध होता है कि मीराँ अपने इष्टदेव के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का भी कुछ जाप कर लिया करती थीं। देखिये—

इण सरवरियाँ री पाल मीराँबाई साँपडे ॥ टेक ॥
साँपड किया असनान, सूरज सामी जप करे।
होय विरंगी नार, डगराँ बिच क्यूँ खड़ी।
काँई थारो पीहर दूर, घराँ सासू लड़ी।
चल्यो जारे असल गुँवार, तनैं मेरी के पड़ी।
गुरू म्हारा दीन दयाल, हीराँरा पारखी।
दियो म्हाने ग्यान बताय, संगत कर साधरी।
खोई कुल की लाज, मुकुंद थाँरे कारणे।
बेगही लीज्यो सँभाल, मीराँ पड़ी बारणे ॥

—पदावली।

साथ ही इतना और भी जान लें कि 'गणगौर' के प्रति उनकी भावना यह है—

'रे साँवलिया म्हाँरे आज रँगीली गणगोर छै जी ॥ टेक ॥
काली पीली बदली में बिजली चमके,
मेघ घटा घन घोर, छै जी।
दादुर मोर पपीहा बोलै,
कोयल कर रही सोर, छै जी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर,
चरणाँ में म्हाँरो जोर, छै जी।

—प॰।वली पृ॰ ७०।

इन प्रमाणों के आधार पर हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि वास्तव में मीराँ की भावना उदार थी और उनकी साधना भरीपुरी बहुत दूर तक चारों ओर फैली हुई थी। मीराँ के इष्टदेव गिरधर गोपाल थे, जिनकी उपासना पति के रूप में मीराँ करती थीं। पति की भावना गिरधर गोपाल में कैसे हो गई, इसे मीराँ के मुँह से ही सुनना चाहिये। कहती हैं—

मीराँ—माई म्हाँने सुपने में, परण गया जगदीस।
सोती को सुपना आवियाजी, सुपना विस्वा बीस।
माँ—गैली दीखे मीराँ बावली, सुपना आल जँजाल।
मीराँ—माई म्हाँने सुपने में, परण गया गोपाल।
अंग अंग हल्दी मैं करी जी, सुधे भीज्यो गात।
माई म्हाँने सुपने में, परण गया दीनानाथ।
छप्पन कोट जहाँ जान पधारे, दुलहा श्रीभगवान।
सुपनेमें तोरन बाँधियो जी, सुपने में आई जान।
मीराँ को गिरधर मिल्या जी, पूर्ब जनमके भाग।
सुपनेमें म्हाने परण गयाजी, हो गयाअचल सुहाग।

—पदावली पृ० २६।

स्वप्न का विवाह कितना सनातन था, इसे भी टाँक लें—

'थाने काँई काँई कह समझाऊँ, म्हारा बाला गिरधारी॥ टेक॥
पूर्ब जनम की प्रीत हमारी, अब नहि जात निवारी।
सुंदर वदन जोवते सजनी, प्रीत भई छे भारी।
म्हाँरे घरे पधारो गिरधर, मंगल गावैं नारी।
मोती चौक पुराऊँ बाल्हा, तन मन तो पर वारी।
म्हारो सगपण तोसूँ साँवलिया, जुगसूँ नहीं विचारी।
मीराँ कहे गोपिन को बाल्हो, हमसूँ भयो ब्रह्मचारी।
चरण सरण है दासी तुम्हारी, पलक न कीजै न्यारी॥

—पदावली पृ० २८।

निदान—

'मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।। टेक ।।
गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ ।
रैण पड़ै तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ ।
रैण दिना वाके संगि खेलूँ, ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊँ ।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ ।
जहाँ बैठावें तितही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलिजाऊँ' ।

—पदावली पृ० ९ ।

मीराँ के गिरिधर गोपाल को तो सभी जानते हैं, उनको पहचानने में किसी को कोई भ्रम नहीं । भ्रान्ति तो तब होती है जब मीराँ के कंठ से यह ध्वनि निकलती है—

तेरो कोई नहि रोकणहार, मगन होइ मीराँ चली ।
लाज सरम कुल की मरजादा, सिर सैं दूरि करी ।
मान अपमान दोउ घर पटके, निकसो हूँ ग्याँन गली ।
ऊँची अटरिया लाल किवड़िया, निरगुण सेज बिछी ।
पँचरंगी झालर सुभ सोहै, फूलन फूल कली ।
बाजू बंद कडूला सोहै, सिन्दुर माँग भरी ।
सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा, सोभा अधक खरी ।
सेज सुखमणा मीरा सोहै, सुभ है आज घरी ।
तुम जावो राणा घर अपणे, मेरी तेरी नाहिं सरी ।।

—पदावली पृ० १७ ।

निश्चय ही मीराँ का यह रंग सगुण भक्तों का रंग नहीं, कबीर आदि निर्गुण सन्तों का प्रसाद है । मीराँ के एक दो नहीं अनेक पद ऐसे हैं जिनमें इसी सेज

की चर्चा है। मीराँ इस क्षेत्र में कहाँ तक सगुण और कहाँ तक निर्गुण हैं इसको फरिया लेना कुछ कठिन है। इसका ठीक ठीक सर्वसम्मत निर्णय सम्भवतः हो भी नहीं सकता। तो भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि मीराँ साधना के क्षेत्र में निर्गुणी भले ही हों किन्तु भावना के क्षेत्र में तो वह सर्वथा गोपी ही हैं। उनके गिरिधर गोपाल वस्तुतः वही गिरिधर गोपाल हैं जो व्रज-भूमि के, सगुण भक्तों के गिरिधर गोपाल। मीराँ इसी गोपाल को अपना पति समझतीं, इसी में रमतीं और अन्त में इसी में लीन भी हो जाती हैं। 'सेज सुखमणा' मे उन्हें चाहे जितना उत्कर्ष मिला हो किन्तु उनको शान्ति मिली अन्त में श्री गिरिधर नागर के श्री रणछोड़ विग्रह में ही।

मीराँ का कहना है—

रामनाम मेरे मन बसियो, रसियो राम रिझाऊँ, ए माय ॥
मैं मंद भागिण करम अभागिण, कीरत कैसे गाऊँ, ए माय ॥ टेक ॥
विरह पिंजर की बाड़ सखीरी, उठकर जी हुलसाऊँ, ए माय।
मन कूँ मार सजूँ सतगुरु सूँ, दुरमत दूर गमाऊँ, ए माय।
डाको नाम सुरत की डोरी, कड़ियाँ प्रेम चढ़ाऊँ, ए माय।
ज्ञान को ढोल बन्यो अति भारी, मगन होय गुण गाऊँ, ए माय।
तन करूँ ताल मन करूँ मोरचंग, सोती सुरत जगाऊँ, ए माय।
निरत करूँ मैं प्रीतम आगे, तौ अमरा पुर पाऊँ, ए माय।
मो अबला पर किरपा कीज्यो, गुण गोविंद के गाऊँ, ए माय।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, रज चरणाँ की पाऊँ, ए माय ॥

(पदावली, पृ० ४६)

इसमें संत-साधना के साथ ही साथ भक्त भावना भी परिलक्षित होती है। प्रतीत होता है कि मीराँ का सत-रंग धीरे धीरे क्षीण होता गया और कृष्ण का प्रेम प्रतिदिन अधिक उमड़ने लगा। होते होते हुआ यह कि मीराँ कृष्ण की लीलाभूमि की ओर झुक पड़ीं। कहती हैं—

मने चाकर राखोजी, मने चाकर राखोजी ॥ टेक ॥
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठ दरसण पासूँ।
बिन्द्रावन की कुंज गलिन में, तेरी लीला गासूँ।
चाकरी में दरसण पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातों सरसी।
मोर मुगट पीताम्बर सोहै, गल बैजन्ती माला।
बिन्द्रावन में धेनु चरावे, मोहन मुरली वाला।
हरे हरे नित बन्न बनाऊँ, बिच बिच राखूँ क्यारी।
साँवरिया के दरसण पाऊँ, पहर कुसुम्भी सारी।
जोगी आया जोग करण कूँ, तप करणे संन्यासी।
हरी भजन कूँ साधु आया, बिन्द्रावन के बासी।
मीराँ के प्रभु गहिर गँभीरा, सदा रहोजी धीरा।
आधीरात प्रभु दरसण दैहैं, प्रेमनदी के तीरा ॥

(पदावली पृ० ७४-५)

इस दर्शन को दृष्टि में रख कर इतना और जान लेना चाहिये कि मीराँ की दृष्टि में भी वृन्दावन में नित्य-लीला हो रही है—

'आली म्हाँने लागे बृन्दावन नीको ॥ टेक ॥
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविंद जी को।
निरमल नीर बहत जमना में, भोजन दूध दही को।
रतन सिंघासण आप बिराजे, मुगट धर्यो तुलसी को।
कुंजन कुंजन फिरत राधिका, सबद सुणत मुरली को।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, भजन बिना नर फीको ॥

—पदावली, पृ० ७९।

मीराँ को इस भूमि से इतना मोह हो गया है कि किसी न किसी रूप में यहीं की हो कर रहना चाहती हैं। फलतः कहती हैं—

गोहने गुपाल फिरूँ, ऐसी आवन मन में।
अवलोकत बारिज बदन, बिबस भई तन में।
मुरली कर लकुट लेऊँ, पीत बसन धारूँ।
काछी गोप भेष मुकट, गोधन सँग चारूँ।
हम भई गुलफामलता, वृन्दावन रैनाँ।
पसु पंक्षी मरकट मुनी, श्रवन सुनत बैनाँ।
गुरुजन कठिन कानि, कासौं री कहिए।
मीराँ प्रभु गिरिधर मिली, ऐसें ही रहिए॥

—पदावली, पृ० ८७-८८।

मीराँ ने कृष्णभक्तों की भाँति लीला का गुणगान भी किया है। किन्तु इस लीला में उनका मन उतना नहीं रमा है जितना स्वय कृष्ण के तन में। इसको तो चलता सा कर दिया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि मीराँ ने इस बात पर विशेष ध्यान दिया है कि भगवान् ने भक्तों के साथ ही साथ सतों का भी कार्य किया है। मीराँ के किसी पद मे केवल सतों का उल्लेख है तो किसी में पौराणिक व्यक्तियों का। यदि दोनों कोटि के व्यक्तियों पर एक साथ ही कृष्ण-कृपा को देखना चाहें तो मीराँ का यह पद पढ़ें :—

म्हाँरे नैणाँ आगे रहीजो जी, स्याम गोबिंद ॥ टेक ॥
दास कबीर घर बालद जो लाया, नामदेव की छान छवंद।
दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनंद।
भीलणी का बेर सुदामा का तंदुल, भर मुठड़ी बुकंद।
करमाबाई को खीच अरोग्यो, होइ परसण पावद।
सहस गोप बिच स्याम बिराजे, ज्यों तारा बिच चद।
सब सतों का काज सुधारा, मीराँ सूँ दूर रहद॥

—पदावली, पृ० ६७-६८।

मीराँ की भक्ति-भावना पर विचार करते समय यदि हम इस बात को दृष्टि में रख कर उनके पदों की छानबीन करें कि मीराँ जब कभी संतमंडली में होती हैं तब संतों के रूप में अपनी भावना को व्यक्त करतीं हैं। अन्यथा एकान्त में उनकी भावना भक्तों की ही रहती है। मीराँ की सच्ची तल्लीनता इसीमें है। मीराँ के हृदय में जिस गिरिधर गोपाल के प्रति बचपन में अनुराग उत्पन्न हुआ था, उसके प्रति सदा बना रहा। मीराँ ने कभी उसको 'शून्य महल' में देखा तो कभी व्रज के कण कण में। सच तो यह है कि मीराँ की गति ही कृष्णमय हो गई थी और उनका चलना भी कृष्ण के प्रेमावेश में नाचना ही हो गया था—

जहाँ जहाँ पाँव धरूँ धरणी पर, तहाँ तहाँ निरत करूँरी।

मीराँ अपने आपको कृष्ण की गोपिका समझती थीं और कृष्ण को भजती भी गोपी-भाव से ही थीं। मीराँ का सच्चा स्वरूप यही है। जहाँ तक सच्ची वेदना, दरद, करक आदि का सम्बन्ध है वहाँ तक मीराँ सबसे अलग और अद्वितीय हैं। मीरां जैसी उत्कंठा किसी साधक में नहीं। मीरां में उद्योग भी ऐसा ही है और उपालम्भ भी अपने ढंगका अनूठा है। मीरां जहाँ कहीं अनुरोध करती दिखाई देती हैं वहां कोई रमता जोगी सामने आ जाता है जिसकी निष्ठुरता से कलप कर वह स्वयं जोगिनी का वेष धारण करना चाहती हैं और किसी प्रकार भी उसका पीछा छोड़ना नहीं चाहतीं। कहती हैं—

बाल्हा मैं वैरागिण हूँगी हो।
जीं जीं भेष म्हाँरो साहिब रीझे, सोइ सोइ भेष धरूँगी, हो॥ टेक॥
सील सँतोष धरूँ घट भीतर, समता पकड़ रहूँगी, हो।
जाको नाम निरंजण कहिये, ताको ध्यान धरूँगी, हो।
गुरू ज्ञान रँगूँ तन कपड़ा, मन मुद्रा पेरूँगी, हो।
प्रेम प्रीत सूँ हरिगुण गाऊँ, चरणन लिपट रहूँगी, हो।
या तन को मैं करूँ कींगरी, रसना राम रटूँगी, हो।
मीराँ कहे प्रभु गिरधर नागर, साधाँ सँग रहूँगी, हो।

——पदावली पृ० ७३-७४।

मीराँ कभी इस जोगी की प्रतीक्षा में तड़प कर कहती हैं—

जोगियाजी निसिदिन जोऊँ बाट ॥ टेक ॥
पाँव न चालै पथ दुहेलो, आडा औघट घाट।
नगर आइ जोगी रम गया रे, मो मन प्रीत न पाइ।
मैं भोली भोलापन कीन्हौ, राख्यौ नहिं बिलमाइ।
जोगिया कूँ जोवत बोहो दिन बीता, अजहूँ आयो नाहिं।
विरह बुझावण अन्तरि आवो, तपत लगी तन माहिं।
कै तो जोगी जग में नहीं, कैर बिसारी मोइ।
काँइ करूँ कित जाऊँरी सजनी, नैण गुमायो रोइ।
आरति तेरी अंतरि मेरे, आवो अपनी जाणि।
मीराँ व्याकुल बिरहिणी रे, तुम बिनि तलफत प्राणि ॥

—पदावली, पृ० २६-२७।

तो कभी अत्यन्त आतुरता के साथ आग्रह करती हैं—

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाँइ परूँ मैं चेरी तेरी हौं ॥ टेक ॥
प्रेम भगति को पैंडो ही न्यारो, हमकूँ गैल बताजा।
अगर चँदण की चिता बणाऊँ, अपणे हाथ जला जा।
जल बल भई भस्म की ढेरी, अपणे अंग लगा जा।
मीराँ कहै प्रभु गिरधर नागर, जोत में जोत मिला जा।

—पदावली, पृ० २७।

मीराँ ने जिस प्रेम-भक्ति का नाम लिया है उसका चरम उत्कर्ष भी यहीं दिखा दिया है। मीराँ को दुःख इस बात का है कि उनकी वेदना को कोई नहीं जानता और सभी लोग कुछ न कुछ मनमानी बात उनके सम्बन्ध में कहते रहते हैं। उधर प्रिय की दशा यह है कि—

तूँ नागर नंदकुमार, तोसों लाग्यो नेहरा ॥ टेक ॥
मुरली तेरी मन हर्‌यो, बिसर्‌यो ग्रिह ब्योहार।
जबतैं स्रवननि धुनि परी, ग्रिह अँगना न सुहाइ।

पारधि ज्यूँ चूकै नहीं, मृगी वेधि दई आइ।
पानी पीर न जाणई, मीन तलफि मरि जाइ।
रसिक मधुप के मरम को, नहि समझत कँवल सुभाइ।
दीपक को जु दया नहीं, उड़ि उड़ि मरत पतंग।
मीराँ प्रभु गिरधर मिले, (जैसे) पाणी मिल गयो रंग।

—पदावली, पृ० १०५।

मीराँ की व्याकुलता असह्य है। संदेश भी कैसा और किस ढंग से भेजा जाता है इसको इस पद में देखना चाहिये—

नातो नाम को मोसों तनक न तोड्यो जाइ॥ टेक॥
पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी रे, लोग कहैं पिंड रोग।
छाने लाँघण मैं किया रे, राल मिलण के जोग।
बाबल वैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हाँरी बाँह।
मूरिख वैद मरम नहि जाणै, करक कलेजा माँह।
जा वैदा घरि आपणे रे, मेरो नाँव न लेइ।
मैं तो दाधी विरह की रे, तूँ काहे कूँ दारू देइ।
माँस गले गल छीजिया रे, करक रह्या गल आहि।
आँगलियाँ री मूदड़ो, म्हारे आवण लागो बाँहिं।
रहो रहो पापी पपीहा रे, पिव को नाम न लेइ।
जे कोइ विरहणि साम्हले, (सजनी) पिव कारण जीव देइ।
खिण मदिर खिण आँगणेरे, खिण खिण ठाढी होइ।
घायल ज्यूँ घूमूँ सदारी, म्हाँरी विथा न बूझै कोइ।
काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे, कौवा तू ले जाइ।
ज्याँ देसाँ म्हाँरो पिव बसै, (सजनी) वे देखै तू खाइ।
म्हाँरे नातो नाव को रे, और न नातो कोइ।
मीराँ व्याकुल विरहणी रे, पिया दरसण दीजो मोइ।

—पदावली, पृ० ३७-३८।

इसका कारण यह नहीं कि मीराँ पत्र भेजना नहीं चाहती। नहीं, ऐसा नहीं है। उनकी अवस्था तो यह है—

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ, लिखि ही न जाइ ॥ टेक ॥
कलम धरत मेरो कर कंपत, हिरदो रहो धर्राई।
बात कहूँ मोहि बात न आवै, नैन रहे झर्राई।
किस विध चरण कमल मै गहिहौं, सबहि अंग थर्राई।
मीराँ कहै प्रभु गिरधर नागर, सबही दुख बिसराई ॥

—पदावली, पृ० ३९।

इस थर्राहट में मीराँ से इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि अपने प्रिय साथी से प्रार्थना करें—

म्हाँरो जनम मरन को साथी, थाँने नहि बिसरूँ दिन राती ॥ टेक ॥
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है, जानत मेरी छाती।
ऊँची चढ़ चढ़ पंथ निहारूँ, रोय रोय अखियाँ राती।
यो संसार सकल जग झूँठो, झूँठा कुलरा न्याती।
दोउ कर जोड्या अरज करत हूँ, सुण लीज्यो मेरी बाती।
यो मन मेरो बड़ो हरामो, ज्यूँ मद मातो हाथी।
सतगुरू दस्त धर्यो सिर ऊपर, आँकुस दे समझाती।
पल पल तेरा रूप निहारूँ, निरख निरख सुख पाती।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरणाँ चित राती ॥

पदावली पृ० ५२।

मीराँ की प्रार्थना निष्फल होगी ऐसा विश्वास नहीं। निदान—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ॥ टेक ॥
म्हैल चढ़े चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी, कब आवै महाराज।
दादर मोर पपइया बोलै, कोइल मधुरे साज।
उमँग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै, दामणि छोड़ी लाज।

धरती रूप नवा-नवा धरिया, इन्द्र मिलण कै काज।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, वेग मिलो महराज ॥१४१॥
—पदावली, पृ० ६९–७०।

'दामणि छोड़ी लाज' और 'धरती रूप नवा-नवा धरिया' का जो प्रभाव मीराँके नारी हृदय पर पड़ा है वह कहने का नहीं। मीराँ ने किस दृष्टि से प्रकृतिको देखा है और उससे कब किस रूप में और कैसे प्रभावित हुई हैं इसको 'सावन' 'होली' और बारहमासा में देखना चाहिये। उनका बारहमासा है—

पिया मोहि दरसण दीजै हो।
बेर-बेर मैं टेरहूँ, अहे क्रिपा कीजै, हो ॥ टेक ॥
जेठ महीने जल बिना, पंछी दुख होई, हो।
मोर असाढाँ कुरलहे, घन चात्रग सोई, हो।
सावण मैं झड़ लागियौ, सखि तीजाँ खेलै, हो।
भादरवै नदिया वहै, दूरी जिन मेलै, हो।
सीप स्वाति ही झेलती, आसोजाँ सोई, हो।
देव काती मे पूज हे, मेरे तुम होई, हो।
मगसर ठंड बहोती पड़ै, मोहि बेगि सम्हालो, हो।
पोस मही पाला घणा, अब ही तुम न्हालो, हो।
महा मही बसत पंचमी, फागाँ सब गावै, हो।
फागुण फागा खेल हैं, वणराइ जरावै, हो।
चैत चित्तमें ऊपजी, दरसण तुम दीजै, हो।
वैसाख वणराइ फूलवै, कोइल कुरलीजै, हो।
काग उड़ावत दिन गया, बूझूँ पिंडत जोसी, हो।
मीराँ विरहिणि व्याकुली, दरसण कब होसी, हो ॥ ११६ ॥
—पदावली, पृ० ५६।

इस बारहमासे में संक्षेप में प्रत्येक मास की प्रकृति और पर्व का उल्लेख

हुआ है। मीराँ ने वर्षा का वर्णन विशेष रूप से किया है, उसमें भी सावन का। यहाँ पर एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा। लीजिये—

झुक आई बदरिया सावन की, सावन क मन भावन की ॥ टेक ॥
सावन में उमँग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिस स आयो, दामण दमक झर लावन की।
नन्हीं नन्हीं बूँदन मेहा बरसै, सीतल पवन सोहावन की।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, आनँद मंगल गावन की ॥ १४४ ॥

—पदावली पृ० ७०-१।

वर्षा है भी राजस्थान के लिये अमृत और मीराँ ने इस अमृत का स्वागत भी जी खोलकर भरपूर किया है। उनके अनेक पद इसी पर आश्रित हैं। रही होली सो उसका भी एक उदाहरण लीजिये—

फागुन के दिन चार रे, होरी खेल मना रे ॥ टेक ॥
बिनि करताल पखावज बाजै, अणहद की झणकार रे।
बिनि सुर राग छतीसूँ गावै, रोम रोम रँग सार रे।
सील सँतोख की केसर घोली, प्रेम प्रीत पिचकार रे।
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर, बरसत रंग अपार रे।
घट के सब पट खोल दिये हैं, लोक लाज सब डार रे।
होरी खेलि पीव घर आये, सोइ प्यारी प्रिय प्यार रे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवल बलिहार रे ॥ १५१ ॥

—पदावली, पृ० ७३।

इस होली में होली का विधान तो पक्का है पर मीराँ का सच्चा हृदय तो किसी और ही होली में प्रकट होता है। देखिये—

रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवे बिरह सतावे, प्रेम की आँच ढुलावै ॥ टेक ॥
बिन पिया जोत मँदिर अँधियारो, दीपक दाय न आवै।
पिया बिन मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बिहावै।

पिया कब रे घर आवै।
दादुर मोर पपीहा बोलै, कोयल सबद सुणावै।
घुमँट घटा ऊलर होइ आई, दामिन दमक डरावै।
नैंन झर लावै।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, बेदन कूण बुतावै।
बिरह नागण मोरी काया डसी है, लहर लहर जिव जावै।
जड़ी घस लावै।
कोई सखी सहेली सजनी, पिया कूँ आन मिलावै।
मीराँ कूँ प्रभु कबरे मिलोगे, मन मोहन मोहि भावै।
कबै हँस कर बतलावै॥ ७८॥

—पदावली, पृ० ३८–९।

मीराँ की प्रकृति ईर्ष्या और द्वेष की नहीं है फिर भी उनका हृदय हृदय ही ठहरा और सो भी नारी का हृदय। फलतः कहती हैं—

पपइया रे पिव की वाणि न बोल॥ टेक॥
सुणि पावेली बिरहणी रे, थारो रालैली पाँख मरोड़।
चाँच कटाऊँ पपइया रे, ऊपरि कालर लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे, तू पिव कहै स कूण।
थारा सबद सुहावणा रे, जो पिव मेला आज।
चाँच मढाऊँ थारी सोवनी रे, तू मेरे सिरताज।
प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ, कउवा तू ले जाइ।
जाइ प्रीतम जू सूँ यूँ कहै रे, थाँरी बिरहिणि धान न खाइ।
मीराँ दासी व्याकुली रे, पिव पिव करत बिहाइ।
वेगि मिलो प्रभु अंतरजामी, तुम बिन रह्योही न जाइ॥ ८४॥

—पदावली, पृ० ४३।

इसी प्रकार कभी कभी उनके मुँह से ऐसा भी निकल पड़ता है जिससे विदित होता है कि उनके हृदय में भी कहीं न कहीं सपत्नी भाव की टीस है। कहीं कहती हैं—

वारी वारी हो राम हूँ वारी, तुम आज्या गळी हमारी ॥ टेक ॥
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है, जोऊँ बाट तुम्हारी ।
कूण सखी सूँ तुम रँग राते, हम सूँ अधिक पियारी ॥ ११४ ॥

—पदावली, पृ० ५५ ।

तो कभी निवेदन करती हैं कि—

पिया अब घर आज्यो मेरे, तुम मोरे हूँ तोरे ॥ टेक ॥
मैं जन तेरा पंथ निहारूँ, मारग चितवत तोरे ।
अवध बदीती अजहुँ न आये, दुतियन सूँ नेह जोरे ।
मीराँ कहे प्रभु कब रे मिलोगे, दरसन बिन दिन तोरे ।

—पदावली, ९५ ।

सच पूछिये तो मीराँ की एक मात्र टेक है—

'मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे'

इसके उपरान्त उनकी प्रार्थना है—

'मिलि बिछुड़न मत कीजे'

और है उनकी चेतावनी—

'प्रीत करो मत कोय ।'

संतों की भाँति मीराँ ने भी 'साकट' को कोसा है और संतों की खुलकर सराहना की है । इसे मीराँ की साम्प्रदायिकता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ! मीराँ का पक्ष है—

आज म्हाँरो साधु जननो संगरे, राणा म्हाँरा भाग भल्याँ ॥ टेक ॥
साधु जननो संग जो करिये, चढ़े ते चौगणो रंग रे ।
साकट जनन तो संग न करिये, पड़े भजन में भंग रे ।
अठसठ तीरथ संतों ने चरणे, कोटि कासी ने सोय गंग रे ।
निन्दा करसे नरक कुंड माँ जासे, थासे आँधवा अपंग रे ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, संतों नीरज म्हाँरे अग रे ।

—पदावळी, ३३ ।

काव्य की दृष्टि से विचार करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। कारण कि मीराँ ने कविता नहीं की है, अपने जी की बात कही है। इसी बात अथवा वेदना ने काव्य का रूप धारण कर लिया है, इसमें सन्देह नहीं। मीराँ के जो पद प्रसंगवश जहाँ तहाँ उद्धृत किये गये हैं उनसे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मीराँ की रचना कितनी सरस, सरल और सुबोध है। तो भी इतना और निवेदन कर देना अच्छा ही होगा कि मीराँ में जहाँ तहाँ अलंकार भी बहुत ही ढंग के आ गये हैं। अलंकारों में सबसे अधिक ध्यान रूपक पर है। मीराँ के कई पद रूपक पर ही आश्रित हैं। इन रूपकों में विशेषता यह है कि इनकी रचना विशेषतः संत-साधना के साथ हुई है जिसके उदाहरण पहले भी आ चुके हैं। शेष अलंकारों में उपमा और उत्प्रेक्षा का स्थान मुख्य है। अलंकारों के द्वारा भावों की व्यंजना अच्छी हुई है। संक्षेप में मीराँ में चमत्कार नहीं वेदना है और यह वेदना ही उनका सर्वस्व है। यह वेदना व्यंजना को लेकर चली है कुछ अलंकार को लेकर खड़ी नहीं हुई है। साथ ही साथ कहीं कहीं लोकोक्तियाँ भी बड़े ठिकाने से आ गईं हैं। हाथ का मींजना, हाथी से उतर कर गधे पर चढ़ना, मन का काठ करना आदि प्रयोग भी मीराँ में आ गये हैं। 'हो गए स्याम दुइज के चंदा में दुइज का चंदा भी है ही जो आज प्रायः ईद के चाँद के रूप में ही चल रहा है। समय का फेर ठहरा!

मीराँ पर बाहरी प्रभाव भी कुछ कम नहीं पड़ा, पर यह प्रभाव सीधे सूफियों से न आकर संतों की ओर से आया और 'काढ़ि करेजो खाहि' तक पहुँच गया। शब्दों के क्षेत्र में भी बहुत कुछ यही स्थिति है। उस समय की साहिबी भी मीराँ में अपनी झलक दिखा जाती है। उससे प्रभावित हो कर मीराँ लिखती हैं—

जागो म्हाँरा जगपति राइक, हँसि बोलो क्यूँ नहीं ॥ टेक ॥
हरि छोजी हिरदा माँहि, पट खोलो क्यूँ नहीं।
तन मन सुरति सँजोइ, सीस चरणाँ धरूँ।
जहाँ जहाँ देखूँ म्हारो राम, जहाँ सेवा करूँ।

सदकै करूँ जी सरीर, जुगै जुग वारणैं।
छोड़ी छोड़ी कुल की लाज, साहिब तेरे कारणैं।
थोड़ी थोड़ी लिखूँ सिलाम, बहोत करि जाण ज्यौ।
बंदी हूँ खाना जाद, महरि करि मान ज्यौ।
हाँ हो म्हारा नाथ सुनाथ, बिलम निह कीजियै।
मीराँ चरणाँ की दास, दरस अब दीजियै।

—पदावली, पृ० २९।

मीराँ के कुछ पद ऐसे भी हैं जिनसे यह पता चलता है कि संसार के प्रति उनकी भावना क्या थी। मीराँ ने भी ससार में कुछ सार नहीं देखा है और न इसको कुछ विशेष महत्त्व ही दिया है। इसकी क्षणभंगुरता और इसका स्वार्थ ही उनके सामने रहा है। जीव और ईश्वर के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा है वह यह है—

'तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं, जैसे सूरज घामा।'

मीराँ ने जब तब जहाँ तहाँ कुछ उपदेश भी दिया है और यह भी स्पष्ट किया है कि बनावटी वैराग्य से हरि की प्राप्ति नहीं होती। उनका कथन है—

भज मन चरण कँवल अविनासी ॥ टेक ॥
जेताइ दीसे धरण गगन बिच, तेताइ सब उठ जासी ॥
कहा भयो तीरथ व्रत कींन्हे, कहा लिये करवत कासी ॥
इण देही का गरब न करणा, माटी मे मिल जासी ॥
यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड्याँ उठ जासी।
कहा भयो है भगवा पहरयाँ, घर तज भये संन्यासी।
जोगी होय जुगति नहि जांणी, उलटि जनम फिर आसी।
अरज करों अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फाँसी ॥ १९४।

—पदावली, पृ० ९२।

उनको इस बात का खेद है कि लोग इधर उधर की बातों में तल्लीन रहते हैं पर भक्ति-भाव में मग्न नहीं होते उसमें अरुचि दिखाते हैं—

लेताँ लेताँ रामनाम रे लोकड़ियाँ तो लाजाँ मरे छै ॥ टेक ॥
हरि मंदिर जाताँ पाँव लिया रे दूखे, फिर आवे सारो गाम, रे।
झगड़ो थाय त्याँ दौड़ी ने जाय रे, मूकी ने घर ना काम, रे।
भाँड भवैया गणिका नृत करताँ, बेसी रहे चारे जाम, रे।
मीराँना प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल चित हाम रे ॥१६१॥

—पदावली, पृ० ७८।

और जो लोग भाव-भजन में पड़ते भी हैं वे पाखंड में फँस जाते हैं। सच्चा भजन नहीं करते—

यहि विधि भक्ति कैसे होय ॥ टेक ॥
मन की मैल हिय तें न छूटी, दियो तिलक सिर धोय।
काम कूकर लोभ डोरी, बाँधि मोहि चंडाल।
क्रोध कसाई रहत घट में, कैसे मिले गोपाल।
बिलार विषया लालची रे, ताहि भोजन देत।
दीन हीन ह्वै छुधा रत से, राम नाम न लेत।
आपहि आप पुजाय के रे, फूले अँग न समात।
अभिमान टीला किये बहु कहु, जल कहाँ ठहरात।
जो तेरे हिय अन्तर की जानै; तासों कपट न बनै।
हिरदे हरि को नाम न आवै, मुख तें मनिया गनै।
हरी हितू से हेत कर, संसार आसा त्याग।
दास मीरा लाल गिरधर, सहज कर वैराग ॥ १६२ ॥

—वही, पृ० ५८९।

अन्त में मीराँ की सान्त्वना तो यह है—

म्हाराँ ओलगिया घर आया जी ॥ टेक ॥
तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया, जी।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूँ मेरे आणँद आया, जी।
मगन भई मिलि प्रभु अपणा सूँ, भौ का दरख मिटाया, जी।
चंद कूँ देखि कमोदणि फूलै, हरखि भया मेरी काया, जी।
रग रग सीतल भई मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिधाया, जी।
सब भगतन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु मैं पाया, जी।
मीराँ बिरहणि सीतल होई, दुख दुन्द दूरि न्हसाया, जी ॥ १४९ ॥

—पदावली, पृ० ७२।

और मीराँ के इस प्रभु का स्वरूप है—

जबसे मोहिं नंदनँदन, दृष्टि पड्यो माई।
तबसे परलोक लोक, कछू ना सोहाई।
मोरन की चंद्रकला, सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहै।
कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर धाई।
मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई।
कुटिल भृकुटि तिलक भाल, चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृगछौना।
सुंदर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेष धरे, रूप अति विसेषा।
अधर बिंब अरुन नैन, मधुर मंद हाँसी।
दसन दमक दाडिम दुति, चमके चपलासी।
छुद्र घंट किंकिनी, अनूप धुनि सोहाई।
गिरधर के अंग अंग, मीराँ बलि जाई ॥ ९ ॥

—पदावली, पृ० ५।

और मीराँ की सीख यह—

सूरत दीनानाथ सूँ लगी, तूँ तो समझ सुहागण नार ॥ टेक ॥
लगनी लहँगो पहर सुहागण, बीती जाय बहार ।
धन जोबन है पावणारी, मिलै न दूजी बार ।
राम नाम को चुड़लो पहिरो, प्रेम को सुरमो सार ।
नकबेसर हरिनाम की री, उतर चलोनी परले पार ।
ऐसे बर को क्या बरूँ, जो जनमै और मर जाय ।
बर बरिये एक साँवरो री, (मेरो) चुड़लो अमर होय जाय ।
मैं जान्यो हरि मैं ठग्योरी, हरि ठग ले गयो मोय ।
लख चौरासी मोरचारी, छिन में गेरया छै बिगोय ।
सुरत चली जहाँ मैं चली री, कृष्ण नाम झणकार ।
अबिनासी की पोळ पर जी, मीराँ करै छै पुकार ॥ २०१ ॥

—पदावली, पृ० ९५ ।

और इस देश की लीला यह—

कोई स्याम मनोहर ल्योरी, सिर धरैं मटकिया डोलै ॥ टेक ॥
दधि को नाँव बिसर गई ग्वालन, 'हरिल्यो, हरिल्यो' बोलै ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चेरी भई बिन मोलै ।
कृष्णरूप छकी है ग्वालनि, औरहि औरै बोलै ॥ १७ ॥

—पदावली, पृ० ८५ ।

बस, यही 'औरहि औरै बोलै' मीराँ को भी इष्ट है ।

६—सूरदास

सूरदास ने अन्धी आँखों से जितना देख लिया है उसको देख कर कोई मान नहीं सकता कि सूरदास जन्मान्ध थे। फिर भी उनके सम्बन्ध में कहा यही जाता है और उनके वंशवृक्ष से भी यही पुष्ट किया जाता है। कुशल यही है कि उस वंशवृक्ष को सभी प्रमाण नहीं मानते और सूरदास के सम्बन्ध में उसे कुछ लोग जाल के रूप में ही देखते हैं। अच्छा होगा, पहले उस वंशवृक्ष को ही थोड़ा विचार लिया जाय। कहते हैं—

प्रथम ही प्रथु जगाते में प्रगट अद्भुत रूप ॥
ब्रह्मराव बिचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप।
पान पय देवी दियो शिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यौ दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति सुखदाय ॥
पार पायन सुरन के पितु सहित अस्तुति कीन।
तासु वंश प्रशस में चन्द चारु नवीन ॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देश।
तनय ताके चार कीन्हों प्रथम आप नरेश ॥
दूसरे गुण चन्द ता सुत शीलचन्द सरूप।
वीरचंद प्रताप पूरण भयो अदभुत रूप ॥
रंतभार हमीर भूपत संग खेलत आप।
तासु वश अनूप भो हरचन्द अति विख्यात ॥
आगेर रहि गोपचल में रह्यो ता सुत बीर।
पुत्र जनमे सात ताके महाभट गंभीर ॥
कृष्णचंद उदारचन्द जो रूपचन्द सुभाइ।
बुद्धचन्द प्रकाश चौथो चन्द भौ सुखदाइ ॥

देवचंद प्रबोध संश्रुतचन्द ताको नाम।
भयो सतो नाम सूरजचंद मन्द निकाम॥
सो समर करि साहि सेवक गये विधि के लोक।
रह्यो सूरजचंद दृग ते हीन भर वर शोक॥
परयो कूप पुकार काहू सुनी ना संसार।
सातयें दिन आय यदुपति कियो आप उधार।
दियो चख दै कही शिशु सुन मांग वर जो चाह।
हौं कह्यो प्रभु भगति चाहत शत्रु नाश सुभाइ॥
दूसरो ना रूप देखौं देखि राधे श्याम।
सुनत करूणासिंधु भाषो एवमस्तु सुदाम॥
प्रबल दक्षिण विप्र कुल ते शत्रु ह्वइहैं नास।
अमित बुद्धि विचारि विद्यामान माने मास॥
नाम राखे मोर सूरजदास, सूर, सुश्याम।
भये अन्तर्ध्यान बीते पाछिली निशि याम॥
मोहि पनसो इहै ब्रज की बसे सुख चित थाप।
थपि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप।
विप्र प्रथु जगात को है भाव भूरि निकाम।
'सूर' है नंदनंदजू को लियो मोल गुलाम॥

यह वंशावली 'साहित्य लहरी' में मिलती है और यही कुछ हेर-फेर के साथ नानूराम भट्ट की दी हुई वंशावली के रूप में भी प्राप्त है। इस वंशावली पर विचार करते समय भूलना न होगा कि यह सूरदास द्वारा कथित वंशावली कही जाती है। लोगों का कहना है कि जब यह 'साहित्य लहरी' में पाई जाती है तब इसके प्रमाण होने में कोई अड़चन नहीं होनी चाहिये। दूसरे लोगों का कहना है कि इसके रंग ढंग से सिद्ध नहीं होता कि यह सूरदास की रची हुई है। उनका यह भी कहना है कि "प्रबल दक्षिण विप्र कुल ते शत्रु ह्वइहैं नास" पेशवा कुल के महत्त्व का द्योतक है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि इसका

संकेत दक्षिण के वल्लभाचार्य से है। विचारणीय बात यह है कि अध्यात्म के क्षेत्र में किसी व्यक्ति का उल्लेख न होकर किसी कुल का उल्लेख क्यों हुआ? आध्यात्मिक दर्शन में व्यक्ति विशेष को ही महत्व मिल सकता है, कुल को नहीं। इतना ही नहीं, इसके आरम्भ में जिस 'प्रथु जगात' का उल्लेख हुआ है उसीका अन्त में भी। इसका भी तो कुछ कारण होना चाहिये। माना कि यह पद सूरदास के द्वारा ही रचा गया है। किन्तु तो भी यह कैसे मान लिया जाय कि इसमें भट्ट-कुल पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है और न विशेष ध्यान दिया गया है 'विप्र कुल' पर ही। इतना ही नहीं, इसमें यह भी कहा गया है—

नाम राखे मोर सूरजदास सूर सुश्याम। क्या यह विलक्षण बात नहीं है कि जहाँ 'प्रबल दक्षिण विप्र कुल' का उद्घोष किया गया है वहीं सूरदास की तीन छापों का भी। क्या एक ही समय एक ही व्यक्ति के द्वारा एक व्यक्ति के तीन तीन नाम रक्खे जा सकते हैं? ऐसा मानने को तो जी नहीं चाहता। और देखने में भी तो ऐसा नहीं आता। तो फिर इसका रहस्य क्या? अच्छा, कुछ काल के लिये इसे भी ठीक मान लें तो भी यह तो जानना होगा कि सूरदास ने इसकी रचना की कब? सौभाग्य से 'साहित्यलहरी' की तिथि भी प्राप्त है। लीजिये—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नंद को लिखि सुबल संवत पेख।
नन्द नदन मास छै ते हीन त्रितिया बार।
नन्द नन्दन जनम ते हैं बान सुष आगार।
त्रितिय रीच्छ सुकर्म जोग बिचारि 'सूर' नवीन।
नन्द नन्दन दास हित 'साहित्य लहरी' कीन।

—साहित्य लहरी, १०९

इससे यह सिद्ध है कि 'साहित्यलहरी' की रचना संवत् १६०७ (१६१७) में हुई। संवत् १६०७ में सूरदास की अवस्था क्या थी इसे ठीक ठीक कहना

कुछ कठिन है। 'नन्द नन्दन दास हित, का अर्थ यदि कृष्णदास लिया जाय तो कहना होगा कि कृष्णदास के लिये ही सूरदास ने 'साहित्यलहरी' की रचना की। 'साहित्यलहरी' के द्वारा साहित्य शास्त्र की शिक्षा दी गई है, इसमें तो सन्देह नहीं। कारण यह की इसके पदों में अलंकारो और नायिकाओ का स्पष्ट निर्देश है। और इसमें दृष्टिकूट के द्वारा यह भी बताया गया है कि किसका सम्बन्ध किससे क्या है। ऐसा प्रसिद्ध भी है कि कृष्णदास अपने पदों में सूरदास का अनुकरण करते थे। तो क्या यह मानना उचित न होगा कि इसी कृष्णदास के हित 'साहित्यलहरी' बनी। यदि यह सत्य है तो इतना और भी मानना ही होगा कि साहित्यलहरी की रचना के समय सूर सूर बन चुके थे।

सूरदास के जीवन के प्रसंग में विद्वानों ने एक दूसरी भी युक्ति से काम लिया है। उनका अनुमान है कि 'सूरसागरसारावली' की रचना भी साहित्य-लहरी' के आसपास ही हुई होगी। यह भी प्रसन्नता की बात है कि 'सारावली' में ६७ वर्ष का उल्लेख है। सूरदास कहते हैं—

'गुरु प्रसाद होत यह दरशन सरसठ बरष प्रवीन।
शिव विधान तप करेउ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन'—

—सूरसागर सारावली—१००२

यह तो प्रगट ही है कि इसमें 'गुरुप्रसाद' 'सरसठ बरष' और 'शिवविधान' बड़े महत्त्व के पद हैं। 'गुरु-प्रसाद' की उलझन हो सकती थी, किन्तु सूरदास ने कृपा कर इसको निर्विवाद कर दिया है।

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सबही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।

—वही, (११०२)

इससे इतना तो सिद्ध ही हो गया कि तत्त्व ज्ञान कराने और 'लीलाभेद' बताने-वाले सूरदास के गुरु श्री वल्लभ ही थे। और उन्हीं के प्रसाद से सूर को दिव्य-

लीला का साक्षात्कार भी हुआ। इसमें कुछ उनके कुल का भी कोई योग था, यह नहीं कहा जा सकता। सूर को जो दिव्य दर्शन मिला था वह यह था—

धीर समीर बहत त्यहि कानन बोलत मधुकर मोर।
प्रीतम प्रिया वदन अवलोकत उठि उठि मिलत चकोर।
अमित एक उपमा अवलोकत जिय में परत विचार।
नहिं प्रवेश अज शिव गणेश पुनि कितक बात संसार।
सहस रूप बहु रूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय।
कुमुद कली विकसित अम्बुज मिलि मधुकर भागी सोय।
नलिन पराग मेघ माधुरि सों मुकुलित अम्ब कदम्ब।
पुनिमन मधुप सदा रस लोभित सेवत अज शिव अम्ब।

—सूरसारावली- १००१।

इस 'मधुर रस' की अनुभूति सूर को भी वल्लभ की कृपा से हुई यही सूर का कथन है।

सूर के जन्मकाल के विषय में अनुमान से संवत् १५४० (संवत् १६०७—६७) ठीक ठहराया गया था किन्तु सम्प्रदाय की जनश्रुति के आधार पर संवत् १५३५ माना गया है। कारण यह बताया गया कि सम्प्रदाय में परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि सूरदास श्री वल्लभ से दस दिन छोटे थे। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' के आधार पर श्री वल्लभ की जन्मतिथि इसी संवत् मे पड़ती है किन्तु कुछ लोगों को कतिपय कारणों से यह तिथि भी मान्य नहीं है। उनकी दृष्टि में श्री वल्लभ का जन्म संवत् १५२९ में होना चाहिये। जो हो, इतना तो मानना ही होगा कि इन दृष्टियों से 'साहित्यलहरी' की रचना ६७ वर्ष की अवस्था के उपरान्त अर्थात् 'सूरसारावली' के अनन्तर ही हुई। अब यह समझ में नहीं आता कि इस अवस्था में श्री सूर ने श्री वल्लभाचार्य का स्पष्ट उल्लेख न कर क्यों उन्होंने 'प्रबल दक्षिण विप्र कुल' का विधान कर दिया। इतना ही नहीं, इससे भी अधिक विलक्षण बात तो यह है कि इसमें खुल कर कहा गया है—

'थपि गोसाईं करी मेरी आठ मध्ये छाप'

श्री गोसाईं अर्थात् श्री वल्लभाचार्य के पुत्र श्री गोस्वामी विट्ठलदास जी तो इसमें आ गये और यह भी आ गया कि उन्होंने किया क्या। हाँ, यदि नहीं आया तो यही कि सूरदास को तत्वज्ञान किसने कराया। कैसी विडम्बना है कि इसमें सूरदास ने अपने आचार्य गुरु का तो संकेत नहीं किया और नाम भी लिया तो उसका जिसने उसे अष्टछाप में स्थान दिया। कोई कुछ भी कहे, किन्तु यह हो नहीं सकता कि यह पद वास्तव में सूर का है। इसमें प्रत्यक्ष ही 'कुल' का गुणगान हुआ है, व्यक्ति का नहीं। फिर चाहे वह 'विप्रकुल' हो या 'भट्ट-कुल,' है तो वह सर्वथा 'कुल' ही ! इसमें चन्दान्त नाम तो हैं हीं सूर के शेष छः भाई भी संग्राम में जूझते हैं और अन्धा सूर कूप में पड़ता, सात दिन उसी में सड़ता और तब भगवान की कृपा से बाहर होता और उसके प्रकट साक्षात्कार पर भी उसकी आँख नहीं खुलती। उसके शत्रुकुल का नाश तो भविष्य में किसी विप्रकुल से होगा। है न इसकी यही व्यवस्था ? तो क्या यही साधु भी है ? और हम सचमुच सूर से यही सुनना चाहते हैं ? हमें तो ऐसा दिखाई देता है कि इस 'सूर' के साथ 'विल्वमंगल' की कथा भी जुट गई है।

सूरदास ने इस दर्शन के सम्बन्ध में कुछ और भी लिखा है। कहते हैं—

सुख पर्यंक अंक ध्रुव देखियत कुसुम कन्द द्रुम छाये।
मधुर मल्लिका कुसुमित कुंजन दम्पति लगत सुहाये।
गोवर्द्धन गिरि रत्न सिंहासन दम्पति रस सुखमान।
निविड़ कुंज जहं कोउ न आवत रस विलसत सुख खान।
निशा भोर कबहूँ नहिं जानत प्रेम मत्त अनुराग।
ललितादिक सींचत सुखनैनन जुर सहचरि बड़भाग।
यह निकुंज को वर्णन करि दे वेद रहे पचिहार।
नेति नेति कर कहेउ सहस विधि तऊ न पायो पार।
दरशन दियो कृपा करि मोहन वेग दियो वरदान।
आगम-कल्प रमण तुव ह्वै है श्रीमुख कही बखान।
सो श्रुतिरूप होय व्रजमंडल कीनो रास बिहार।

नवल कुञ्ज में अंश बाहु धरि कीन्ही केलि अपार।

—सूरसारावली, १००३—१००८।

यह सच है कि सूरदास ने यहाँ भी मोहन के दर्शन और मोहन के बरदान की बात कही है किन्तु यह तो हो नहीं सकता कि यह 'दर्शन' और यह 'बरदान' 'साहित्यलहरी' के दरसन और बरदान का द्योतक है। नहीं, यह वरदान उस वरदान से सर्वथा भिन्न है। और इसका संकेत है भविष्य जीवन की मधुर निकुंज लीला की प्राप्ति। श्रुति का निर्देश भी इसी को लक्ष्य कर किया गया है। निदान मानना पड़ता है कि 'सूरसारावली' के इस निकुंज दर्शन से 'साहित्यलहरी' के उस कूप दर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं। सूरदास ब्रह्मभट्ट थे अथवा नहीं यह हम ठीक ठीक नहीं कह सकते तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि इसी पद के आधार पर उन्हें ब्रह्मभट्ट मानना विवेक से हाथ धोना है। सूरदास के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि वह सारस्वत ब्राह्मण थे वह भी निर्विवाद नहीं जँचता। क्योंकि जिस वार्ता के प्रमाण पर उनको सारस्वत ब्राह्मण कहा जाता है वह स्वयं ही सब को मान्य नहीं है। श्रीहरिरायजी कृत 'भावप्रकाश' मे उनको सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है। इस आधार पर जो लोग उसे प्रमाण मानना चाहें मान सकते हैं अन्यथा इसका भी कोई दृढ़ आधार नहीं। सूरदास का एक पद है—

हरि जू हौ यातें दुःख-पात्र।
श्री गिरधरन चरन रति ना भई तजि विषया रस मात्र।
दुतो आढ्य तब कियौ असद व्यय, करी न ब्रज वन-जात्र।
पोषे नहि तुव दास प्रेम सौं, पोष्यौ अपनो गात्र।
भवन सँवारि, नारि-रस लोभ्यौ, सुत, वाहन, जन भ्रात्र।
महानुभाव निकट नहिं परसे, जान्यौ न कृत-विधात्र।
छल-बल करि जित-तित हरि पर-धन धायौ सब दिन-रात्र।
सुद्धासुद्ध बोझ बहु ल्ह्यो सिर, कृषि जु करी लै दात्र।
हृदय कुचील काम-भू तृष्ना, जल कलिमल है पात्र।

ऐसे कुमति जाट सूरज कौं, प्रभु बिनु कोऊ न धात्र।

—सभा संस्करण, पद २१६।

हमारी दृष्टि में सूरदास का यह पद बड़े महत्त्व का है। इसमें जिस व्यक्ति का परिचय दिया गया है यदि वह प्रतीक के रूप में न होकर व्यक्ति के रूप में है तो हमें यह कहने में सकोच नहीं होता कि इसमें सूर का आत्मजीवन है। 'ऐसे कुमति जाट सूरज कौं प्रभु बिन कोउ न धात्र' में जाट का अर्थ 'जपाट' भी हो सकता है और 'जाट' भी। जाट का अर्थ 'जाट' ही है इसे कहने में कोई दोष नहीं दिखाई देता। सूरदास ने अन्यत्र भी कहा है—

हौ तौ जाति गँवार पतित हौ, निपट निलज, खिसि आनौ।
तब हँसि कह्यौ सूर प्रभु सो तौ, मोहूँ सुन्यो घटानौ॥

—१९६।

'हौ तो जाति गॅवार' भी कुछ इसी का सूचक है। साथ ही इतना और भी स्मरण रहे कि इसमें यह भी कहा गया है—

'हुतो आढ्य तव कियो असद्व्यय' जिससे विदित होता है कि सूर जन्म से दरिद्र न थे। इस 'आढ्य' को ध्यान में रखकर यदि सूर का अध्ययन किया जाय तो बहुत से रूपक आप ही खुल जाते हैं। यह तो सभी लोग जानते हैं कि सूरदास ने गाय का रूपक बाँधा है और बाँधा है खेती का रूपक भी। साथ ही दरचार अथवा सुल्तानी ढंग को भी बड़े ही ढंग और व्योरे के साथ दिखाया है। शासन की उस समय जैसी व्यवस्था थी वह भी सूर में भरी पड़ी है। वाद, अथवा कचहरी की लिखापढ़ी भी उसमें भली-भाँति आ गई है और इस ठिकाने से आई है कि वह किसी अनुभवी अथवा भुक्तभोगी की बात ही ठहरती है। कहने का तात्पर्य यह कि यदि हम सूर को धनाढ्य जाट के कुल का देखें तो यह व्यारी बातें आप ही आ जाती हैं और फिर किसी प्रकार की कोई उलझन नहीं रह जाती। विचार के लिए यहाँ सूरदास के दो ऐसे पद दिये जाते हैं जिससे स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाय।

साँचौ सो लिखवार कहावै ।
काया-ग्राम मसाहत करिकै जमा बाँधि ठहरावै ।
मन-महतो करि कैद अपने मैं ज्ञान-जहतिया लावै ।
माँड़ि माँड़ि खरिहान क्रोध कौ, पोता भजन भरावै ।
बट्टा काटि कसूर भरम कौ, फरद तलै लै डारै ।
निहचै एक असल पै राखै, टरै न कबहूँ टारै ।
करि अवारजा प्रेम प्रीति कौ, असल तहाँ खतियावै ।
दूजे करज दूरि करि दैयत, नैंकु न तामैं आवै ।
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल कौ, हरि सौं तहँ लै राखै ।
निर्भय रूपै लोभ छाँड़िकै, सोई वारिज राखै ।
जमा खरच नीकैं करि राखै, लेखा समुझि बतावै ।
सूर आपु गुजरानु मुसाहिब, लै जवाब पहुँचावै ।

—सभा संस्करण-१४२ ।

इसी की गवाही में एक दूसरा पद भी लीजिये—

हरि ! हौं ऐसौ अमल कमायौ ।
साबिक जमा हुती जो जोरी, मिन जालिक तल ल्यायौ ।
बासिल बाकी, स्याहा मुजमिल, सब अधर्म की बाकी ।
चित्र गुप्त सु होत मुस्तौफी सरन गहूँ मैं काकी !
मोहरिल पाँच साथ करि दीने तिनकी बड़ी बिपरीति ।
जिम्में उनके, माँगैं मोतैं, यह तौ बड़ी अनीति ।
पाँच-पचीस साथ अगवानी, सब मिलि काज बिगारे ।
सुनी तगीरी, बिसरि गई सुधि, मो तजि भये नियारे ।
बढ़ौ तुमार बरामद हूँ कौ लिखि कीनो है साफ ।
सूरदास की यहै बीनती, दास्तक कीजै माफ ।

—सभा सं०—१४३. ।

इन पदों में जो अरबी-फारसी के शब्द आये हैं उनकी संगति ठीकठीक तभी बैठ सकती है जब हम सूर को धनाढ्य जमींदार के रूप में देखें। कारण, ये ऐसे प्रचलित शब्द नहीं जो जनसमाज के काम के हों, खेती के विषय में भी यही कहा जा सकता है। खेती का विवरण जिस ढंग से सूर ने दिया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। देखिये—

प्रभु जू, यों कीन्ही हम खेती।
बंजर भूमि गाउँ हर जोते, अरु जेती की लेती।
काम-क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रजतामस सब कीन्हौ।
अति कुबुद्धि मन हाँकन हारे, माया-जूआ दीन्हौ।
इन्द्रिय मूल-किसान, महातृन-अग्रज-बीज बई।
जन्म जन्म की विषय बासना, उपजत लता नई।
पंच प्रजा अति प्रबल बली मिलि, मन बिधान जौ कीनौ।
अधिकारी जम लेखा मांगै, तातैं हौं आधीनौ।
घर मैं गथ नहिं भजन तिहारौ, जौन दियैं मैं छूटौ।
धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातैं ठाकुर लूटौ।
अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही।
लागै धरम बतावै अधरम, बाकी सबै रही।
सोई करौ जु बसतै रहियै अपनौ धरियै नाउँ।
अपने नाम की बैरख बाँधौ, सुबस बसौं इहिं गाउँ।
कीजै कृपा दृष्टि की बरषा, जन की जाति लुनाई।
सूरदास के प्रभु सों करियै, होई न कान-कटाई।

—सभा सं०—१८५।

इस जाट के प्रसंग में इतना और भी जान लेना चाहिये कि सूर में शूरता भी कम नहीं है। सूर का रावण क्षत्रियत्व की रक्षा करता है। उसका निश्चय है—

संकट परैं जो सरन पुकारौं, तौ छत्री न कहाऊँ।

—वही, ५७६।

और यही कहता है उनका कुंभकर्ण भी—

सूर सकुचि जौ सरन सँभारौं, छत्री-धर्म न होय।

—वही, ५६५।

इस क्षत्रिय-धर्म को यदि और भी उत्कर्ष के साथ देखना हो तो सूरदास का यह पद पढ़ें—

धनि जननी जो सुभटहिं जावैं।
भीर परैं रिपु कौ दलि दलि-मलि कौतुक करि दिखरावैं।
कौसिल्या सौं कहति सुमित्रा, जनि स्वामिन दुख पावैं।
लछिमन जनि हौं भई सपूती, राम काज जौ आवैं।
जीवैं तौ सुख बिलसैं जग मैं, कीरति लोकनि गावैं।
मरैं तौ मंडल भेदि भानु कौ, सुरपुर जाइ बसावैं।
लोह गहैं लालच करि जिय कौ, औरौ सुभट लजावैं।
सूरदास प्रभु जीति सत्रु कुसल छेम घर आवैं।

—वही, ५९६।

क्षत्रिय की इस आन और इस मर्यादा को देखते हुए सूर के क्षत्रिय-हृदय को न सराहना उचित न होगा।

जाट सम्बन्धी जो पद पहले आ चुका है उसमें एक और भी संकेत है जिससे सिद्ध हो जाता है कि सूरदास के इष्टदेव थे श्री 'गिरिधरन जी'। 'श्रीगिरिधरन चरन रति ना भई' का यही तो निर्देश है। श्री गिरिधरन जी श्री वल्लभाचार्य की कृपा से सूर के इष्टदेव हुए इसमें कोई सन्देह नहीं। सूर ने एक स्थल पर कहा है—

सूर कहौ क्यौं कहि सकै, जन्म कर्म अवतार।
कहे कछुक गुरु-कृपा तैं श्री भागवतऽनुसार।

—वही, ३७९।

इस गुरु-कृपा में गुरु का अर्थ है श्री वल्लभाचार्य, कारण कि श्री भागवत का ज्ञान उन्हीं के द्वारा सूरदास को हुआ था और 'सूरसारावली' में उन्हीं का स्पष्ट नामोल्लेख भी है। परन्तु यहाँ एक और ही प्रश्न उठ खड़ा होता है। सूरदास ने एक पद में हरिवंश तथा हरिदास का भी नाम लिया है जिससे इधर कुछ लोग उन्हें उन्हीं के सम्प्रदाय में देखना चाहते हैं। हमारी दृष्टि में उन्होंने उक्त पद की व्याप्ति पर उचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास का वह पद है—

कह्यौ भागवत शुक अनुराग। कैसे समुझै विनवड़भाग॥
श्री गुरु सकल कृपा करी।
सूर आश करि वरण्यो रास। चाहत हौं वृन्दावन बास।
श्री राधावर इतनी कर कृपा।
निशिदिन श्याम सेउँ मैं तोहिं। इहै कृपा करि दीजै मोहिं।
नव निकुञ्ज सुख पुंजमय।
हरिवंसी हरिदासी जहाँ। हरि करुणा करि राखहु तहाँ।
नित विहार आभार दै।
कहत सुनत बाढ़त रसरीति। वक्ता श्रोता हरिपद प्रीति।
रास रसिक गुण गाइ हौं।

—सूरसागर, पृ० ४६१, ३०।

प्रत्यक्ष ही इस पद में जो श्री गुरु का प्रयोग हुआ है वह हरिवंश और हरिदास के लिये नहीं। यहाँ भी इसका संकेत श्री वल्लभाचार्य के निमित्त ही है। 'निश दिन श्याम सेउँ मैं तोहिं' में सेवा की भावना बनी ही है। तो फिर सूर को श्री वल्लभ का शिष्य क्यों न माना जाय? रही 'हरिवंसी हरिदासी जहाँ' की अड़चन, सो उसका सीधा संकेत है निकुंज-लीला, नित्य-विहार किंवा मधुर रस की अनुभूति से; कुछ किसी उपदेश अथवा दीक्षा से नहीं। सूरदास वस्तुतः करना क्या चाहते थे और क्या न कर सके उसको भी जान लेना चाहिये। कहते हैं—

जनम तौ बादिहिं गयौ सिराइ।
हरि-सुमिरन नहिं गुरु की सेवा, मधुबन बस्यौ न जाइ।

अब की बार मनुष्य-देह धरि, कियौ न कछू उपाइ।
भटकत फिरयो स्वान की नाईं नैंकु जूठ कें चाइ।
कबहुँ न रिझए लाल गिरधरन, बिमल-बिमल जस गाइ।
प्रेम सहित पग बाँधि घूँघरू, सक्यौ न अंग नचाइ।
श्री भागवत सुनी नहिं स्रवननि नैंकहुँ रुचि उपजाइ।
आनि भक्ति करि हरिभक्तनि के कबहुँ न धोए पाइ।
अब हौं कहा करौं करुनामय, कीजै कौन उपाइ।
भव अंबोधि, नाम-निज-नौका, सूरहिं लेहु चढ़ाइ।

—सभा सं०–१५५।

इसमें भी 'लाल गिरधरन' का नाम लिया गया है जिससे सिद्ध है कि सूरदास के इष्ट श्री 'गिरिधरन' ही थे। 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' (पृष्ठ ४१) में कहा गया है कि संवत् १५६४ में श्री गोवर्धन की स्थापना हुई। इस स्थापना के उपरान्त ही सूरदास को श्री वल्लभाचार्य की शरण मिली अतः कहा जा सकता है कि आरम्भ से ही सूरदास का सम्बन्ध इस रूप से हो गया था। कारण कि शरण में लेने के उपरान्त सवत् १५६५ में श्री आचार्यजी काशी में 'द्विरागमन' के हेतु विराजमान थे। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' स्वतः प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता। उसकी रचना सवत् १७२९ में हुई थी, ऐसा उसमे कहा गया है परन्तु उसमें प्रसंगवश जो इतिहास आ गया है वह सर्वथा असाधु है।

कहना न होगा कि उस समय औरंगज़ेब दिल्ली का सम्राट था। उसके विषय में भी जिसे ठीक ठीक पता नहीं वह उसके समय का कैसे हो सकता है। औरंगजेब १७०१ सम्राट् नहीं बना था। यह समय शाहजहाँ के शासन का है। फिर भी उसको शाह ही कहा गया है। औरंगजेब ने मन्दिर तोड़ने का कार्य सन् १६६९ (सवत् १६६९–५७ = १७२६) के पहले नहीं किया था। किन्तु 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' के कथनानुसार यह कार्य सवत् १७०४ के पहले ही हो गया था, जो था शाहजहाँ का समय। सच तो यह है कि क्या

'वार्ता' क्या 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' क्या कोई और भी इसी वर्ग की दूसरी रचना ऐसी नहीं बनी है कि हम उसे प्रमाण कोटि में मान सकें। 'वैष्णवन की वार्ता' की असाधुता पर 'विचार विमर्श' नामक ग्रन्थ में विचार हो चुका है। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' के विषय में यहाँ इतना निवेदन कर देना ही पर्याप्त है। सूरदास के बारे में कहा जा चुका है कि उनकी जाति गंवार थी, और थे वे जाट। यहाँ इतना और भी समझ लें कि उनका स्वयं कहना है—

मैं तेरे घर को हौ ढाढ़ी, मो सरि कोउ न आन।
सोइ लैहौ जो मो मन भावै, नंद महर की आन।
धन्य नन्द, धनि धन्य जसोदा, जिन जायौ अस पूत।
धन्य भूमि, ब्रजवासी धनि-धनि आनँद करत अकूत।
घर-घर होत अनंद बधाय, जहँ-तहँ मागध सूत।
मनि मानिक, पाटंबर-अम्बर, लेत न बनत विभूत।
हय-गय खोलि भँडार दिये सब, फेरि भरे ताँ भाँति।
जबहिं लेत तबहि फिरि देखत, संपति घर न समाति।
ते मोहिं मिले जात घर अपनै, मैं बूझी तब जाति।
हँसि हँसि दौरि मिलै अंकम भरि, हम तुम एकै ज्ञाति।
संपति देहु, लेहुँ नहिं एकौ, अन्न वस्त्र कहि काज?
जो मैं तुमसौ माँगन आयौ, सो लैहौं नंदराज।
अपने सुत कौ बदन दिखावहु, बड़ महर सिरताज।
तुम साहब, मैं ढाढ़ी तुम्हारौ, प्रभु मेरे ब्रजराज।
चन्द्र-बदन-दरसन-संपति दै, सो मैं लै घर जाऊँ।
जो संपति सनकादिक दुरलभ, सो है तुम्हरैं ठाऊँ।
जाकौ नेति नेति स्रुति गावति, तेइ कमल पद ध्याऊँ।
हौ तेरौ जनम, जनम कौ ढाढ़ो, सूरजदास कहाऊँ॥"

—सभा सं०—६५४।

इसमें जो कुछ कहा गया है उसको यदि ध्यान से देखा जाय तो स्वयं अवगत

हो जाय कि वस्तुत: 'हौं तेरो जनम जनम कौ ढाढ़ी सूरजदास कहाउँ।' का रहस्य क्या है। 'सूरजदास कहाउँ' को और भी खुले रूप में देखना है तो इतना और भी टाँक लें।—

जब हँसि कै मोहन कछु बोलै, तिहिं सुनि कै घर जाऊँ।
हौं तौ तेरे घर कौ ढाढ़ी सूरदास मोहिं नाऊँ।"

—सभा सं०-६५२।

सूरदास कीर्तन किया करते थे और कीर्तन करना, स्वामी का गुण गाना, ढाढ़ी का भी काम है। सूरदास वस्तुत: जन्म के ढाढ़ी नहीं, कर्म के ढाढ़ी थे अतः बिदाई भी कुछ अपने ढंग की ही माँगते हैं। इस ढाढ़ी का स्थान है गोबर्धन, जहाँ श्री गिरधरन जी का मन्दिर था। 'मैं गोबरधन तैं आयौ' में इसी की पुकार है। 'हँसि हँसि दौरि मिले अंक्रम भरि हम तुम एकै ज्ञाति।' से इतना तो आप ही प्रकट हो जाता है कि यहाँ 'ज्ञाति' का लक्ष्य है याचक, 'भूप' नहीं, परन्तु इतना और भी चेत लेना चाहिये कि सूरदास के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि पूर्व जन्म में वे यादव थे। तो क्या इसका भी कुछ रहस्य है? 'भक्त-विनोद' में कवि मियाँसिंह ने इसका विवरण दिया है और प्रसंगवश लिखा भी है—

सो जब समय आय नियराना। तजि विकुंठ यादव गुण खाना।
मथुरा प्रान्त विप्रवर गेहा। भा उत्पन्न भक्ति हरि नेहा।
जन्म अंध हग ज्योति विहीना। जननि जनकु कछु हर्ष न कीना।

—सूरदास जी का जीवन चरित्र पृष्ठ १५, सूरसागर।

सूर के जन्मान्ध और ब्राह्मण होने की जो वार्ता अत्यन्त प्रचलित है, वह यहाँ भी है। सूर की वाणी से यह सिद्ध नहीं होता कि यथार्थत: सूर जन्मान्ध थे। सूरदास ने आँख के विषय में बहुत कुछ लिखा है और अनेक रूपों में लिखा है। कहीं कहते हैं—

'सूरदास की एक आँखि है ताहू में कछु कानौ।

—सभा सं०–४७।

तो कहीं लिखते हैं—

सूरदास सौ कहा निहारौ, नैननि हूँ की हानि।

—सभा सं०–१३५।

तो कहीं यह भी बताते हैं—

सूर कूर, आँधरौ, मैं द्वार पर्यौ गाऊँ।

—सभा सं०–१६६।

तो कहीं यह भी सुनाते हैं—

सूरज दास अन्ध, अपराधी, सो काहैं बिसरायौ।

—सभा सं०–१९०।

आदि न जाने कितने स्थल सूरसागर में आये हैं जिनसे निष्कर्ष निकलता है कि सूरदास जन्मान्ध नहीं थे। हाँ, धीरे-धीरे अन्धे हो गये थे। सूरदास ने सौन्दर्य की जो छवि उतारी है और किसी वस्तु को जो जीता-जागता रमणीय रूप दिया है उसको देखकर कोई कहना तो दूर रहा, कहने का साहस भी नहीं कर सकता कि सूरदास जन्मान्ध थे। यदि रूप के सौन्दर्य तक ही यह बात होती तो कहा जा सकता था कि सुन सुनाकर भी तो सूरदास ऐसा लिख सकते थे। परन्तु यह बात है नहीं। उत्प्रेक्षा के रूप में सूरदास ने जिस अप्रस्तुत का उत्प्रेक्षण किया है वह सर्वत्र देखा दिखाया ही नहीं है, उसमें बहुत कुछ सूरदास का अपना भी है और है सर्वथा अपनी दृष्टि का प्रसाद। सूरदास कहते हैं—

घन दामिनि धरती लौं कौंधे, जमुना-जल सौं पागे।
आगैं जाउँ जमुन जल गहिरौ पीछैं सिंह जु लागे।

—सभा सं०–६२२।

वसुदेव जिस विपत्ति में घिर गये हैं उसक व्यापक व्यंजना तो इसमें है ही। दामिनि का घन में कौंधना और धरती तक कौंध कर आ जाना तो किसी भी कवि

के द्वारा कहा जा सकता था किन्तु 'जमुना जल सौ पागे' किसी सुदृष्ट कवि को ही दिखाई दे सकता है। इसी प्रकार सूर की एक दूसरी दृष्टि भी लीजिये—

जसुदा देखि सुत की ओर।
बाल बैस रसाल पर, रिस इती कहा, कठोर।
बार बार निहारि तुव तन, नमित-मुख दधि-चोर।
तरनि किरनहि परसि मानौ, कुमुद सकुचत भोर।
त्रास तैं अति चपल गोलक, सजल सोभित छोर।
मींन मानौ बेधि बंसी करत जल झकझोर।

—सभा सं०—९७६।

बंसी की इस झकझोर पर ध्यान दें और देखें कि यह किस आँख की देन है।

सूरदास के विनय के पदों में सबसे विचित्र बात यह दिखाई देती है कि सूर यदि किसी संत का नाम लेते हैं तो नामदेव का ही। कलियुग में नामदेव को ही सूर की दृष्टि में यह महत्त्व मिला है कि—

कलि मैं नामा प्रगट ताकी छानि छवावै।
सूरदास की बीनती कोउ लै पहुँचावै।

—सभा सं०—४।

इसीको अन्यत्र भी इस रूप में लिखा है—

प्रीति जानि हरि गये विदुर कैं नामदेव घर छायौ।
सूरदास द्विज दीन सुदामा, तिहिं दारिद्र नसायौ।

—सभा सं०—२०।

तो क्या इसके आधार पर सरलता से यह नहीं कहा जा सकता कि आरम्भ में सूर नामदेव की भक्ति की ओर ही ढले थे। वार्ता में कहा गया है कि जब श्री आचार्य जी के कहने पर सूर ने 'प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ'

का गान किया तब श्री आचार्य जी ने कहा—'सूर है कें एसो घिघियात काहे को है ? सो तासों कछु भगवल्लीला वर्णन कर।' इससे भी विदित होता है कि सूरदास पहले लीला की ओर नहीं मुड़े थे। उनका ध्यान तो उस समय घिघियाने, विनय करने अथवा दैन्य दिखाने की ओर ही था। 'सूरदास की बीनती कोउ लै पहुँचावै' में कोउ का प्रयोग प्रकट करता है कि सूर को कोई सद्गुरु अभी नहीं मिला था। सूर के विनय में राम नाम का माहात्म्य भी कुछ कम नहीं है। सूर कहते हैं—

आनंद-मगन राम-गुन गावै, दुख संताप की काटि लनी।
सूर कहत जे भजत राम कौ, तिन सौ हरि सौं सदा बनी।

—सभा सं० ३९।

इतना ही नहीं,

अद्भुत राम नाम के अंक।
धर्म-अंकुर के पावन द्वै दल, मुक्ति वधू ताटंक।
मुनि-मन-हंस-पच्छ-जुग, जाकैं बल उड़ि ऊरध जात।
जनम—मरन—काटन—कौं, कर्तरि तीछन बहु बिख्यात।
अंधकार-अज्ञान हरन कौं रवि—ससि जुगल—प्रकास।
बासर निसि दोउ करैं प्रकासित महा कुमग अनयास।
दुहूँ लोक सुख करन, हरन दुख, वेद पुराननि साखि।
भक्ति ज्ञान के पंथ सूर ये, प्रेम निरंतर भाखि।

—सभा सं०-९०

राम के इस स्वरूप को ठीक ठीक समझने का कार्य तभी हो सकता है जब हम सूर की माया को भी समझ लें। देखिये—

बिनती सुनौ दीन की चित दै कैसे तुव गुन गावै ?
माया नटी लकुटि कर लीन्हें, कोटिक नाच नचावै।
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वाँग बनावै।

तुम सों कपट करावति प्रभु जू, मेरी बुधि भरमावै।
मन अभिलाष-तरंगनि करि करि, मिथ्या निशा जगावै।
सोवत सपने मैं ज्यों सपति, त्यौं दिखाइ बौरावे।
महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहि लगावै।
ज्यौ दूती पर बधू भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै।
मेरे तो तुम पति तुमहीं गति, तुम समान को पावै।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु, को मो दुख बिसरावै।

—सभा सं० ४२।

अस्तु, हमारा कहना है कि सूरदास श्री वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व ही भक्त बन चुके थे और बहुत कुछ चल रहे थे नामदेव के सगुण-निर्गुण मार्ग पर ही। योग-साधना के जो अवशेष उनमे पाये जाते हैं उनकी साखी भी यही है। इसके सम्बन्ध में आगे चल कर थोड़ा और विचार होगा। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में जो कहा गया है कि—

"सो गऊ घाट सूरदास जी कौ स्थल हुतौ। सो सूरदास स्वामी है, आप सेवक करते।"

—वार्ता प्रसग १, डाकोर पृष्ठ २८६।

सो ठीक दिखाई देता है। कारण कि सूरदास की स्वयं वाणी भी उसी पक्ष में है। उनके विनय के पदों से प्रगट होता है कि उन्होने वैष्णव संत मत को स्वीकार किया था और उसी का उपदेश भी देते थे। राम-नाम की महिमा उसी समय की छाप है और विनय के अधिकांश पद उसी समय के रचे हुए हैं। श्री वल्लभाचार्य के प्रभाव में आने तथा 'सगुण-लीला-पद' गाने के प्रसाद से उनकी रति निकुंज-लीला अथवा मधुर-रस में हो गई और वल्लभ-सम्प्रदाय में भी उन्हें 'मानलीला' का अधिकारी समझा गया। ८४ 'वार्ता' में जो यह कहा गया है कि सूरदास के मुख से जो अन्तिम पद चित्त की वृत्ति के द्योतन में निकला सो था—

"खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चार, चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवन के उलटि पुलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुण अटके नातर अब उड़ि जाते।"

उसका संकेत भी यही है।

यहाँ इतना और भी ध्यान रहे कि अन्त समय में सूरदास ने उसे गाया कुछ बनाया नहीं जैसा कि प्रमादवश समझा जाता है। इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। अत: मानना यह चाहिये कि सूरदास की अन्तिम निष्ठा रास-रस अथवा निकुंज लीला में ही थी और उसी में रम जाने की उनमें उत्कट उत्कंठा भी।

सूरदास के जीवन के विषय में इतना निवेदन कर देने के उपरान्त यह आवश्यक नहीं रह जाता कि उन सभी बातों का जो कहीं न कहीं किसी न किसी प्रकार किसी न किसी रूप में उनसे जुट गई हैं—निराकरण किया जाय। सूरदास अकबर के दरबार में गाते थे अथवा कभी गाने के विचार से उसके आग्रह पर उसके यहाँ गये थे अथवा उसके दरबार के गवैया रामदास के पुत्र थे आदि बातों में कुछ तथ्य नहीं दिखाई देता। हाँ, सलेम अथवा इसलाम शाह शूर से उनका जो सम्बन्ध बताया गया है वह विचारणीय अवश्य है। उन्होंने कभी तुलसीदास को पत्र लिखा था सो भी मिथ्या ही ठहरता है, और मिथ्या है उस सूरदास से भी इनका सम्बन्ध जोड़ना जिसका उल्लेख अबुलफ़ज़ल ने किया है। हाँ, प्रसंग वश इतना और भी निवेदन कर देना है कि 'श्री भक्तमाल' में सूर के सम्बन्ध में कोई पँवारा नहीं। उसमें तो केवल इतना कहा गया है—

सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।
उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन, अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रति बिंबित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।

विमल बुद्धि गुन और की, जो यह गुन स्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

और ध्यान देने की बात यह है कि इस पर प्रियादास की कोई टीका भी नहीं। बात है भी यही। सूरदास को बृज का बिछोह सह्य नहीं हो सकता। उनको तो बस बृज-रज में रमण करना है, और जीना है श्री गिरिधरन की जूठन से। कहीं जाना आना उनके विचार से बाहर की बात है। कान दे सुनिए—

धनि यह बृन्दाबन की रेनु।
नन्द किसोर चरावत गैयाँ, मुखहिं बजावत बेनु।
मन मोहन कौ ध्यान धरैं जिय, अति सुख पावत चैनु।
चलत कहाँ मन और पुरी तब, जहाँ कछु लैन न दैनु।
इहाँ रहहु जहँ जूठनि पावहु, ब्रजवासिनि कैं ऐनु।
सूरदास ह्याँ की सरवरि नहिं, कल्पवृच्छ सुर धैनु।

—सभा सं०-११०९।

सूर के अवसान के समय परासूली में एक और भी विशेष घटना घटती है। श्री गुसाईं जी के सेवक 'चत्रभुजदास' को यह बात खटकती है—"सो ता समय सगरे वैष्णव श्री गुसाईं जी के पास ठाडे हते। उनमें से चत्रभुजदास ने कह्यो जो—सूरदासजी परम भगवदीय हैं, और सूरदासजी ने श्री ठाकुरजी के लक्षावधि पद किये हैं। परंतु सूरदासजी ने श्री आचार्य जी महाप्रभुन को जस बरनन नाही कियो।"

इसका भी कुछ रहस्य है। सूरदास ने कभी श्री वल्लभाचार्य का उस रूप में गुण-गान नहीं किया जिस रूप में श्री गोस्वामी विट्ठलदास जी कराना चाहते थे और आश्चर्य नहीं कि इसी कारण सूरदास ने अपने आपको वल्लभी लोगों की कोटि में न रखकर हरिदासी और हरिवंशी वर्ग में रखा हो। श्री वल्लभ-सम्प्रदाय पर विचार करते समय भूलना न होगा कि उसमें वेद और तंत्र का ही योग नहीं है उसमें तो कुछ शामी रंग भी आ गया है। सम्प्रदाय मे वल्लभकुल की जो प्रतिष्ठा है वह 'इमामकुल' की प्रतिष्ठा की छाया है। सूरदास इस छाया से दूर ही

रहे। उन्होंने श्री वल्लभ और भगवान को कभी एक नहीं समझा। सम्प्रदाय के धनी उन्हें कुछ भी कहते रहें पर उनके जीवन में प्रमाण तो उनकी निजी वाणी ही होगी।

श्री वल्लभ-सम्प्रदाय की मीमांसा में उतरने के पहले यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि उस समय भारतवर्ष मे इसमाइली सम्प्रदाय का प्रचार नाना रूपों में चल रहा था। कहीं प्रगट, कहीं प्रच्छन्न, कहीं गुप्त कहीं हिन्दू वेष में भी। इस सम्प्रदाय की विशेषता यह है कि यह अली तथा उनके वंशजों को बहुत महत्त्व देता है। इसकी धारणा है कि रक्त के साथ ही दिव्य ज्योति का प्रवाह भी वंशजों में बना रहता है। यही कारण है कि उस वंश में जो प्रमुख किंवा इमाम होता है उसकी उपासना बहुत कुछ इष्टदेव किंवा तारक के रूप में होती है। आजकल के प्रसिद्ध इमाम सर आगा खाँ जो हीरों से तौले जाते हैं इसी सम्प्रदाय के इमाम और कन्हैया हैं। खोजे और बोहरे जैसे इस कुलके ही रहे हैं वैसे ही भाटिये वल्लभ-कुल के। ऐसी परिस्थिति में श्री वल्लभ-सम्प्रदाय ने जो कुछ किया वह यही कि यदि मुहम्मद साहब श्री वल्लभाचार्य के रूप में सामने आये तो अली श्री गोस्वामी विट्ठलदास के रूप में। उनके वंश का आगे का विस्तार भी इसी रूप में हुआ।

अभी अभी जो कुछ कहा गया है उसको और भी निकट से समझने के लिये श्री हरिराय जी कृत 'बड़े शिक्षापत्र' के अध्ययन की आवश्यकता है। उसमें 'शिक्षापत्र २४' में कहा गया है—

भक्तिमार्गे कृपामात्रं करणं परमुच्यते।
तेनैव मार्गे सकलं सिद्धिमेति न संशयः॥ १ ॥
सा तु स्वाचार्यशरणागतौ तैर्शापितः प्रभुः।
यदैव कुरुते कृष्णस्तदा भवति सर्वथा॥ २ ॥

इसको सम्प्रदाय की भाषा में भी समझ लेने से स्थिति आप ही स्पष्ट हो जायेगी—

शब्दार्थ :—भक्तिमार्ग में कृपामात्र उत्तम कारण है या कारण तें ही सकल सिद्धि कों पावेंगे संशय नाहीं। १।

यह कृपा तो अपने श्री आचार्य जी के शरण जाय तब इनने जताये ऐसे प्रभु श्री कृष्ण जब से कृपा करेंगे तब निश्चय होयगी ॥ २ ॥

विषय विचारणीय है अतः द्वितीय श्लोक की टीका भी देख लीजिये---

टीका---पुष्टिमार्ग में आय अपने श्री वल्लभाचार्य जी के शरणागत होय रहे तब श्री आचार्य जी जीव को श्री कृष्ण को जतावेंगे तब सर्वथा उह जीव पर श्री कृष्ण कृपा करेंगे ॥ २ ॥

श्री वल्लभाचार्य को परम पुरुष, परात्पर, परमात्मा प्रभृति मानने में तो कोई बात न थी। अवतार की भावना अपनी ही है। किन्तु इस प्रकार ज्ञापन की यह प्रणाली अपनी नहीं, पैगम्बरी है और है यह इसलामी प्रभाव।

श्री वल्लभाचार्य ने स्वतः इस ज्ञापन को आधार बनाया ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने तो अपनी आराधना में सूफियों की प्रेम-पीर को समेटा और इसलामी प्रभाव से अपनी रक्षा के हेतु विग्रह-सेवा को साधु ठहराया। सेवा में मधुर-रस को लाना ठीक नहीं होता अतः उन्होंने उसे बाल-लीला के अधीन कर दिया और बालकृष्ण की सेवा को ही इष्ट ठहराया। इस सेवा-प्रणाली में तंत्र का योग है। श्री वल्लभाचार्य ने नाद और वेद दोनों का समन्वय कर जिस शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त ठहराया—वह सहृदयों और रसिकों के लिये सर्वथा उपयुक्त ठहरा और सूफियों का प्रेम-प्रचार यहाँ की भक्ति-सीमा को तोड़ न सका। एक ओर जहाँ इनका यह प्रेम-प्रसंग सहज और समरस को लिये हुए था वहीं दूसरी ओर सूफियों के वियोग को भी। हमारी समझ में श्री वल्लभाचार्य की सब से बड़ी देन यही है, और यही है श्री सूरदास की सब से बड़ी रचना। श्री वल्लभाचार्य ने कहा और सूरदास ने उसे घर घर फैला दिया। फिर तो सम्प्रदाय को विभूति की सूझी और फलतः श्री गुसाईं जी की कृपा से 'कुल' का वैभव भी प्रभूत हुआ। उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। सूरदास ने श्री वल्लभाचार्य की उपासना नहीं की। उन्होंने तो उनके तत्त्व को पकड़ा और उसी को सरस वाणी में व्यक्त किया। सूरदास को संक्षेप में जानना हो तो उनका यह पद कण्ठस्थ करें—

मैं देख्यौ जसुदा कौ नंदन, खेलत आँगन बारौ री।
ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री।
देखत आनि सँच्यो उर अंतर, है पलकनि कौ तारौ री।
मोहिं आप भयौ सखी, उर अपनैं, चहुँ दिसि भयौ उज्यारौ री।
जौ गुंजा सम तुलत सुमेरहिं, ताहू तैं अति भारौ री।
जैसैं बूँद परत बारिधि मैं, त्यौं गुन ज्ञान हमारौ री।
हौं उन माँह कि वै मोहिं महियाँ, परत न देह सँभारौ री।
तरु मैं बीज कि बीज माँह तरु, दुहुँ मैं एक न न्यारौ री।
जल-थल-नभ-कानन-घट भीतर, जहँ लौं दृष्टि पसारौ री।
तितही तित मेरे नैननि आगैं निरतत नंद-दुलारौ री।
तजी लाज कुलकानि लोक की, पति गुरुजन प्यौसारौ री।
जिनकी सकुच देहरी दुर्लभ, तिनमैं मूँड उघारौ री!
टोना-टामनि जंत्र मंत्र करि, ध्यायौ देव दुआरौ री।
सासु-ननद घर घर लिए डोलतिं, याकौ रोग बिचारौ री।
कहौं कहा कछु कहत न आवै, औ रस लागत खारौ री।
इनहिं स्वाद जो लुब्ध सूर सोइ जानत चाखन हारौ री।

—सभा सं०-७५३।

सूरदास ने अपने आचार्य के आदेश को पल्लवित किया, वह भी बहुत कुछ अभी तक हमारी आँख से ओझल है। भक्ति की दृष्टि से हम देखते हैं कि श्री वल्लभाचार्य भागवत हैं और श्रीमद्भागवत को ही मुख्य साधन ठहरते हैं। सूरदास ने भागवत का अनुसरण किया है परन्तु सर्वत्र नहीं। जहाँ कहीं उन्होंने जिसका अनुसरण किया है वहाँ उसका पता भी तुरत बता दिया है। इससे होता यह है कि हम सूरदास के अन्य स्रोतों को भी भलीभाँति जान लेते हैं और उनकी 'यथामति' को भी पहिचान जाते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रसंग में भी भूलना न होगा कि उसका अनुसरण ठीक ठीक एक ही रूप में हुआ है। दूसरे रूप में वैसा और उतना नहीं। सूरसागर के सम्पादकों में 'पहली लीला' और 'दूसरी

लीला' का निर्देश तो किया है किन्तु उनको समझाने का उद्योग उनसे न हो सका। रहे सूरसागर के समीक्षक, सो उनकी भी स्थिति प्रायः यही रही। यदि लोगों का ध्यान उचित रीति से यथार्थ में इस ओर जाता तो सूरसागर भी एक रूप में खडात्मक प्रबन्धकाव्य ही ठहरता। सूरसागर में जो 'दूसरी लीला' कही जाती हैं उनको यदि एकत्र किया जाय तो 'सूरसागर' खासा प्रबन्धकाव्य बन जाय, और उसका रूप बहुत कुछ उस रूप मे प्रस्तुत हो जाय जिस रूप में 'पद्मावत' है। इसमें सन्देह नहीं कि दूसरे रूप में भी जो प्रसग आये हैं वे भी प्रबन्ध रूप मे रक्खे गये हैं। यह बात दूसरी है कि समय समय पर रचे जाने के कारण उनमे पुनरुक्ति हो गई है। एक ही विषय और एक ही भाव के कई पद बन गये हैं। ठीक वैसे ही जैसे स्वर्गीय रत्नाकर जी के 'उद्धव-शतक' में कई कवित्त ऐसे आ गये हैं जिनसे उसके प्रबन्ध-प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है। दोनों में अन्तर यही है कि 'उद्धव-शतक' में उनकी मात्रा न्यून है और 'सूरसागर' में बहुत अधिक। स्मरण रहे 'दूसरी लीला' अथवा लम्बे वृत्त पदों में पुनरुक्ति नहीं है। नहीं, उनको तो एक एक सर्ग कहा जा सकता है। उनमे से कुछ तो सचमुच सर्ग ही हैं, किन्तु कुछ बहुत ही छोटे। सर्गबद्ध काव्यों से 'सूरसागर' का यह रूप भले ही न तुले पर 'रामचरितमानस' के 'सोपानों' और 'पद्मावत' के 'खडों' से इसकी तुलना तो सरलता से की जा सकती है।

'सूरसागर' मे जो 'दूसरी लीला' कही गई है उसका आशय यह नहीं है कि आदि से अन्त तक 'सूरसागर' मे पहली और दूसरी लीला का विधान है। नहीं, सर्वत्र ऐसा नहीं है। कहीं कहीं एक ही लीला दो रूपों में है तो कहीं कहीं एक लीला एक ही रूप में। प्रबन्ध दोनों मे है किन्तु सच्ची प्रबन्ध दृष्टि 'दूसरी लीला' में ही है। कहने का भाव यह है कि सूरदास ने जहाँ कथा अथवा वृत्त को महत्त्व दिया है वहाँ तो दूर तक एक ही अटूक धारा बही है किन्तु जहाँ भाव वा रस को मुख्य ठहराया है, वहाँ ऐसा नहीं हो पाया है। रचना की दृष्टि से समस्त 'सूरसागर' को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है विनय के पद, अवतार के पद, बाल-विनोद के पद, भावती लीला के पद, और विरह के पद। इनके

अतिरिक्त अद्भुत लीला के पद भी जहाँ तहाँ मिलते हैं। इनमें विनय के पद तो सर्वथा मुक्तक हैं। बाल-विनोद के पद भी मुक्तक ही हैं, किन्तु प्रबन्ध के आधार पर। कृष्ण की बाल लीला में जहाँ परित्राण और विनाश का वर्णन है वहाँ मुक्तक उपरान्त प्रबन्ध के रूप में वह बाल लीला कही गई है। नाग का नाथना अथवा कमल पुष्प का लाना बड़े महत्त्व की लीला है। प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से यह सूरसागर का सर्वोत्तम स्थान है। यह रुचा भी सूरदास को बहुत है। 'भावती लीला' वस्तुतः वह लीला है जिसे सूरदास सदा देखना चाहते हैं। यह लीला भी दो रूपों में हमारे सामने आती है— प्रकट और गुप्त। सूरदास ने इसे प्रबन्ध के रूप में ही लिखा है। प्रबन्ध धारा में वस्तु के दब जाने और भाव के उमड़ आने से यह लीला भी मुक्तक सी प्रतीत होती है। इसमें सूरदास ने किसी किसी लीला को प्रबन्ध का रूप भी दिया है। दान-लीला इसी ढंग की लीला है। इस 'भावती लीला' को हम कहीं ऐश्वर्य के रूप में पाते हैं और कहीं माधुर्य के रूप में। हैं तो दोनों ही रूप परन्तु भावती लीला का सच्चा संकेत है, माधुर्य लीला की ओर ही। बाल-लीला और 'भावती-लीला' में एक बड़ा भेद यह भी है कि बाल-लीला के अन्त में यह बताना आवश्यक नहीं समझा गया है कि अमुक बाल-लीला की फलश्रुति क्या है, उसके पठन-पाठन का फल क्या है। किन्तु भावती-लीला में यह निर्दिष्ट है कि अमुक लीला का फल क्या है, और क्यों उसका पठन पाठन होना चाहिये। हमारी समझ में चीर-हरण लीला से भावती लीला का आरम्भ समझना चाहिये। इस लीला के अन्त में सूरदास ने कहा है—

> जुवतिनि बिदा दई गिरधारी। गईं घरनि सब घोष-कुमारी
> बस्त्र-हरन-लीला प्रभु कीन्हौ। ब्रज-तरुनिनि ब्रत कौ फल दीन्हौ।
> यह लीला स्रवननि सुनि भावै। औरनि सिखवै आपुन गावै।
> सूर स्याम जन के सुखदाई। दृढ़ताई मैं प्रगट कन्हाई॥
>
> —सभा स०-१४१७

'यज्ञ-पत्नी-लीला' में और भी स्पष्ट रूप में कहा गया है—

भक्ति भाव सौं जो हरि ध्यावै। सो नर नारि अभय पद-पावै।
यह लीला सुनि गावै जोई। हरि की भक्ति सूर तिहिं होई।

—सभा सं०-१४१८।

इसका कारण कदाचित् यह है कि सूरदास को 'भावती-लीला' ही इष्ट है और इस 'भावती-लीला' का चरम उत्कर्ष है 'रास-लीला' में। उसी की ओर ले जाने के लिये और भी अनेक सी भावती लीलायें की गई हैं। सूरदास का इष्ट तो यह है—

रासरस रीति नहि वरणि आवै।
कहां वैसी बुद्धि कहां वह मन लहौं,
कहां इहचित्त जिय भ्रम भुलावै॥
जो कहौं कौन मानै निगम अगम जो,
कृपा बिन नहि या रसहि पावै।
भाव सौं भजै बिन भाव में ए नहीं,
भाव ही भाव महं यह बसावै।
यहै निज मन्त्र यह गान यह ध्यान है,
दरश दम्पति भजन सार गाऊं।
इहै मांग्यो बार बार प्रभु सूर के,
नैन द्वौ रहैं नर देह पाऊं॥

—सूरसागर, १०-९३।

कारण यह कि—

रास-रस मुरली ही तें जान्यो।
श्याम अधर पर बैठि नाद कियो मारग चन्द्र हिरान्यो॥
धरणि जीव जल थल के मोहे नभमंडल सुर थाके।
तृण द्रुम सलिल पवन गति भूले श्रवन शब्द पर्यौ जाके॥
बच्यौ नहीं पाताल रसातल कितिक उदै लौं भान।
नारद शारद शिव यह भाषक कछु तनु रह्यो न सयान॥

यह अपार रस रास उपायो सुन्यो न देख्यौ नैन।
नारायण धुनि सुनि ललचाने श्याम अधर सुनि बैन ॥
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी विहरत है वन श्याम।
सूर कहां हमको वैसो सुख जो विलसयि ब्रज वाम ॥

—सूरसागर—१०-५५।

सूरदास ने जिस मधुर-रस को अपनी साधना का लक्ष्य बनाया वह 'भावती-लीला' में ही सधता है। यही कारण है कि बाल-विनोद में भी यह लीला गुप्त रूप से चलती ही रहती है। जो कृष्ण यशोदा के लिए तनक से बालक हैं वही गोपियों के लिए भाँति-भाँति की, अचगरी करने वाले तरुण कृष्ण। यहाँ तक कि कृष्ण एक रूप में गोपियों को छेड़ते हैं। गोपियाँ जब किसी प्रकार उन्हें पकड़ पातीं और पकड़ कर उनकी पूजा कराने के विचार से उनको यशोदा के पास लातीं तब उनका और ही रूप हो जाता है और उन्हें लज्जित होने के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं जाता। तात्पर्य यह कि इस 'भावती-लीला' का प्रसार कृष्ण जीवन में आदि से अन्त तक है। 'विरह-लीला' में प्रबन्ध का अपेक्षाकृत अभाव है। सूरदास ने उससे कुछ और ही काम निकाला है। इस विरह-लीला के भी, सच पूछिये तो दो पक्ष हो जाते हैं—एक तो गोपियों के सम्बन्ध से और दूसरा कंस अथवा तत्कालीन राज सत्ता के लगाव से। वहाँ भी घटना की दृष्टि से जो रचना हुई है वह प्रबन्ध के रूप में है और कीर्तन की दृष्टि से जो हुई है वह मुक्तक के रूप मे। सारांश यह कि यह प्रबन्ध और यह मुक्तक की धारा वहाँ भी चलती रही है और बनी रही है 'सूरसागर' के अन्त तक। अन्तर केवल मात्रा और उत्कर्ष का है, कुछ विधान और प्रसंग का नहीं।

अब रही 'अवतार-लीला।' अवतार-लीला कृष्णावतार से पहले भी आती है और पीछे भी। पीछे की तो बस कहने को है। पहले की लीला भी कुछ विशेष रूप से नहीं कही गई है। किसी अवतार को प्रबन्ध के रूप में एक ही पद में कह दिया गया है तो किसी को मुक्तक के रूपमें छोटे-छोटे कई पदों में। सामान्यतः

१४

यह कहा जा सकता है कि अवतार-लीला प्रबन्ध के रूप में ही अंकित हुई है, स्फुट रूप में बहुत थोड़ी। अन्य अवतारों में सबसे महत्त्व का अवतार है रामावतार। इस अवतार में सूरदास की वृत्ति अन्य अवतारों से कहीं अधिक रमी है, और फलतः इसकी रचना भी स्फुट रूप ही में अधिक हुई है। अच्छा यह हुआ है कि सूरदास ने इसमें एक ही भाव को कई बार दोहराया नहीं है। यदि प्रसंग कुछ बड़ा हुआ तो पद भी कुछ बड़ा बन गया। अन्यथा संक्षेप में कहकर उसे समाप्त किया गया।

'अद्भुत-लीला' कोई स्वतंत्र लीला नहीं। किसी भी लीला के बीच में जो अद्भुत प्रसंग आ जाता है वही अद्भुत-लीला है। इस लीला का एक मात्र उद्देश्य होता है कृष्ण के परम रूप के बोध कराने का। कृष्ण सामान्य व्यक्ति नहीं, परम पुरुष परमात्मा और विष्णु के अवतारी और अवतार हैं यही उसका लक्ष्य है। इस शक्ति का प्रदर्शन जहाँ कहीं होता है वह सामान्य जनता में अद्भुत होता है, जो कभी किसी सम्बन्ध से किसी पर किसी रूप में प्रकट होता है और कहीं किसी पर किसी रूप से। यह अद्भुत-लीला कृष्ण चरित में जहाँ-तहाँ तो है ही, अन्यत्र भी अपने मूल रूप में विराजमान है।

प्रबन्ध की दृष्टि से देखा जाय तो सूरसागर को प्रबन्ध-काव्य कहने में कोई विशेष क्षति नहीं। हमारी दृष्टि में सूरसागर को चरित-प्रबन्ध काव्य नहीं कहा जा सकता। और नहीं कहा जा सकता उसको कथा-प्रबन्ध-काव्य। कारण यह कि सूरदास का ध्यान न तो कृष्ण-चरित पर रहा है और न उनकी जीवन गाथा पर ही। उनका ध्यान तो रहा है कृष्ण के सगुण रूप और लीलावतार पर। अतः सूरसागर को 'लीला-प्रबन्ध-काव्य' कहना चाहिये। लीला में जहाँ कथा इष्ट है वहाँ पक्का प्रबन्ध है जहाँ रस और भाव की बात है वहाँ मुक्तक की झड़ी है। वस्तुतः सूरसागर भाव-प्रबन्ध-काव्य है, वस्तु-प्रधान वा चरित-प्रधान नहीं। सूरसागर का निर्माण इस ढंग से हुआ है कि यदि हम चाहें तो उसे छाँट कर दो रूपों में प्रकट कर सकते हैं प्रबन्ध रूप में और मुक्तक रूप में भी। अवश्य ही मुक्तक रचना प्रबन्ध रचना से ऊँची सिद्ध होगी परन्तु प्रबन्धों में कुछ प्रबन्ध ऐसे

भी निकलेंगे जिनकी तुलना उनकी मुक्तक रचना नहीं कर सकती। सारांश यह कि कुछ प्रसंग प्रबन्ध के रूप में जितने खरे उतरे हैं उतने मुक्तक के रूप में नहीं। 'दान-लीला' इसी कोटि की लीला है। और इसी कोटि की लीला है 'नाग-लीला' भी।

सूरदास के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि उन्हें श्री वल्लभ-कुल के संकीर्ण क्षेत्र में देखना ठीक न होगा। सूरदास के विनय के पदों के अध्ययन से पता चलता है कि अपने जीवन के आरम्भ में कभी न कभी उनमें राम की भावना प्रबल थी जो श्री वल्लभाचार्य के मधुर रस के प्रवाह में आगे चल कर लुप्त हो गई। सूरदास के सम्बन्ध में भूलना न होगा कि सूरदास राम और शिव के प्रसंग में उतने कट्टर नहीं जितने कि निर्गुण के प्रसंग में। राम के विषय में कुछ कहने के पहले देखना यह होगा कि शिव के प्रति सूर की धारणा क्या है। सूर कहते हैं—

> सखि री, नन्दनन्दन देखु।
> धूरि धूसरि जटा जुटली, हरि किये हर भेषु।
> नील पाट पिरोइ मनि गन, फनिग धोखैं जाइ।
> खुनखुना कर, हंसति हरि, हर नचत डमरू बजाइ।
> जलज माल गुपाल पहिरे, कहा कहौं बनाइ।
> मुंड माला मनौ हर गर, एसी सोभा पाइ।
> स्वति-सुत-माल विराजत स्याम तन इहिं भाइ।
> मनौ गगा गौरि डरि हर लई कठ लगाइ।
> केहरि-नख निरखि हिरदै, रहीं नारि विचारि।
> बाल-ससि भानु भाल तैं लै, उर धर्यौ त्रिपुरारि।
> देखि अंग अनंग झझर्यौ नन्द सुत हर जान।
> सूर के हिरदै बसौ नित, स्याम शिव कौ ध्यान।

—सभा स०-७८८।

अन्तिम पंक्ति से प्रत्यक्ष ही है कि सूरदास यहाँ शिव और श्याम को एक ही रूप में ध्यावते हैं। किन्तु यह तो काव्य की छटा ठहरी। इस कला के भीतर कुछ भावना भी तो होनी चाहिये। अच्छा इसे भी देख लीजिये।—

हरि-हर संकर, नमो नमो।
अहिसाइ, अहि-अंग-विभूषन, अमित दान, बल विष हारी।
नीलकंठ, बर नील कलेवर, प्रेम परस्पर-कृतहारी।
चन्द्र चूड़, सखि-चन्द्र-सरोरुह, जमुना प्रिय, गंगा-धारी।
सुरभि-रेनु-तनु, भस्म विभूषित; वृष वाहन, वन वृषचारी।
अज-अनीह-अविरुद्ध-एकरस यहै अधिक ये अवतारी।
सूरदास सम, रूप नाम-गुन अंतर अनुचर अनुसारी।

—सभा सं०—७८९।

सूरदास ने अपना निर्णय देने में तनिक भी संकोच नहीं किया। एक ओर कृष्ण को अवतारी कह कर परात्पर ठहराया तो दूसरी ओर शिव और श्याम को 'अनुचर' और 'अनुसारी' बतलाया। शिव, श्याम के अनुचर हैं तो श्याम भी शिव का अनुसरण करते हैं। दोनों में कहीं विरोध लेशमात्र को नहीं है और जो अन्तर है वह अपनी भक्ति-भावना के कारण। यहाँ यह भी टाँक रखना होगा कि श्री वल्लभाचार्य की गणना रौद्र सम्प्रदाय में होती है। तो भला सूर शिव की उपेक्षा उनकी शिष्यता के नाते भी कैसे कर सकते थे? अब रही राम की स्थिति। सो, इतने से ही जान लीजिए कि कृष्ण वस्तुतः अपने आपको क्या समझते हैं। कहते हैं—

सुनि सुत, एक कथा कहौं प्यारी।
कमल नैन मन आनँद उपज्यौ, चतुर सिरोमनि देत हुँकारी।
दसरथ नृपति हुतौ रघुवंसी, ताकैं प्रकट भए सुत चारी।
तिन मैं मुख्य राम जो कहियत, जनक सुता ताकी बर नारी।
तात-बचन लगि राज तज्यौ नित, अनुज, घरनि सँग भए बन चारी।

धावत कनक-मृगा कै पाछैं, राजिव लोचन परम उदारी।
रावन हरन सिया कौ कीन्हौ, सुन नंद-नंदन नीद निवारी।
चाप-चाप करि उटे सूर प्रभु, लछिमन देहु, जननि भ्रम भारी।

—सभा सं०–८१६।

सूर के राम कितने हृदयालु और वीर हैं इसे भी जान लें तो पता चले कि सूर छोड़ते किसी को नहीं, पर गढ़ते हैं 'रास-रस-रसिक' कृष्ण को ही। उनके राम—

फिरत प्रभु पूछत बन द्रुम बेली।
अहो बंधु, काहूँ अवलोकी इहिं मग बधू अकेली!
अहो विहंग, अहो पन्नग नृप, या कंदर के राई।
अबकैं मेरी विपति मिटाऔं जानकि देहु बताइ।
चंपक-पुहुप-बरन-तन-सुन्दर, मनौ चित्र अवरेखी।
हो रघुनाथ, निसाचर कैं सग अबै जात हौं देखी।
यह सुनि धावत धरनि, चरन की प्रतिमा पथ मैं पाई।
नैन नीर रघुनाथ सानि सौं, सिव ज्यौं गात चढ़ाई।
कहुँ हिय हार, कहूँ कर कगन, कहुँ नूपर, कहूँ चीर।
सूरदास बन बन अवलोकत, बिलख बदन रघुबीर॥"

—सभा स०–५०८।

कवित्व और हृदय का तो कहना ही क्या? अब जीव की पुकार पर उद्धार की तत्परता भी देख लीजिए। इसी क्षण—

तुम लछिमन या कुंज कुटी मैं देखौ जाइ निहारि।
कोउ इक जीव नाम मम लै लै उठत पुकारि-पुकारि।
इतनी कहत कंध तै कर गहि लीन्हौ धनुष सँभारि।
कृपानिधान नाम हित धाए, अपनी विपति बिसारि।
अहो विहंग, कहौ अपनौ दुख, पूँछति ताहि खरारि।

कहिं मति मूढ इत्यौ तनु तेरौ, किधौ बिछोही नारि ?
श्री रघुनाथ रमनि, जग जननी, जनक नरेस कुमारि।
ताकौं हरन कियौ दसकंधर, हौं तिहिं लग्यो गुहारि।
इतनी सुन कृपालु कोमल, प्रभु दियौ धनुषकर डारि।
मानौ सूर प्रान लै रावन गयौ देहि कौ डारि।

—सभा सं०—५०९।

अन्त में सूर की अपनें इस प्रभु से यही प्रार्थना है और है यही अध-चन भी—

विनती किँहिँ विधि प्रभुहिं सुनाऊँ।
महाराज रघुबीर धीर कौ, समय न कबहूँ पाऊँ।
जाम रहत जमिनिके बीतैं, तिहिं औसर उठि धाऊँ।
सकुच होत सुकुमार नींद मैं, कैसैं प्रभुहिं सुनाऊँ।
दिनकर-किरन, उदित, ब्रह्मादिक-रुद्रादिक इक ठाऊँ।
अगनित भीर अमर मुनि गन की, तिहि तैं ठौर न पाऊँ।
उठत सभा दिन मधि, सैनापति-भीर देखि, फिर आऊँ।
न्हात-खात सुख करति साहिबि, कैसैं करि अनखाऊँ।
रजनी-मुख आवत गुन-गावत, नारद तुँबुर नाऊँ।
तुम्हीं कहौ कृपानिधि रघुपति, किहि गिनती मैं आऊँ।
एक उपाय करौ कमलापति, कहौ तौ कहि समुझाऊँ ?
पतित-उधारन नाम सूर प्रभु, यह रुक्का पहुँचाऊँ॥

—सभा सं०—६१६।

राम की मर्यादा सूर को स्वीकार तो है पर उसमे उनकी वृत्ति वैसी नहीं रमती जैसी कि गिरिधर की मधुर-लीला में। इसी से सूर पुष्टि को अपनाते पर चाहते मर्यादा को भी हैं। सूर को नित्य-लीला में जो रस दिखाई देता है वह अवतार-लीला में नहीं। सूरदास ने मधुर-रस का जैसा कोक-कलामय चित्रण किया है

वैसा किसी अन्य ने नहीं। सूरदास का शृंगार अपने क्षेत्र में निराला है। जहाँ कहीं सूर ने सम्भोग का वर्णन किया है वहाँ उसे छिपाकर रक्खा है। उसे उघार कर सब के सामने प्रस्तुत नहीं किया है। सूरदास ने रूपकातिशयोक्ति और कूट के द्वारा बड़े ही सुन्दर ढंग से इसे दिखाया और बड़े ही रम्य तथा सुचारु रूप में अंकित भी किया है।

सूरदास के शृंगार-वर्णन में कृष्ण बहुवल्लभ हैं किन्तु उनकी विशेष रति राधा में ही है। सूरदास जहाँ कहीं दम्पति शब्द का प्रयोग करते हैं वहाँ उनका अभिप्रेत यही होता है कि राधा उनकी स्वामिनी और कृष्ण उनके स्वामी हैं। राधा और कृष्ण का जो यह सम्बन्ध है वह देश-काल से सर्वथा मुक्त है। अन्य गोपियों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। उनको तो सूरदास ने वेद की ऋचा माना है। श्रुतियों की केलि-कामना के उत्तर में रास-विहारी कृष्ण ने कहा—

मथुरा मंडल भरत-खंड निज धाम हमारो।
धरौं तहाँ मैं गोप-भेष सो पथ निहारो।
तब तुम होइकै गोपिका करिहौ मोसों नेह।
करौं केलि तुम सों सदा सत्य वचन मम येह।
श्रुति सुनिकैं हरिवचन भाग्य अपनी बहु मानी।
चितवन लागे समय दिवस सो जात न जानी।
भार भयो जब पृथ्वी पर तब हरि लियो अवतार।
वेद ऋचा होइ गोपिका हरि सों कियो विहार।
जो कोइ भरता-भाव हृदय धरि हरि पद ध्यावै।
नारि पुरुष को होइ श्रुति ऋचा गति सो पावै।
तिनके पद रज जो कोइ बृन्दाबन भूमाहिं।
परसै सोउ गोपिका गति पावै संशय नाहिं।

—सूरसागर पृ० ४६२, १०–६१।

किन्तु राधा के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। सूरदास ने उनका संक्षिप्त परिचय एक प्राण दो देह के रूप में ही सदा दिया है और अन्त में यह भी कह दिया है कि कृष्ण सभी सखियों का सन्तोष कर अन्त में राधिका के ही हो रहते हैं, और फिर किसीके पास जा उन्हें 'खडिता' नहीं करते। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि सूरदास का जो अन्तिम पद कहा जाता है वह सुरति लक्षिता राधा के रूप का वर्णन ही है। सूरदास ने एक-एक करके मुख्य सात सखियों के साथ कृष्ण-क्रीड़ा दिखाई है, और अन्त में वृषभानुनन्दिनी के पास लाकर छोड़ दिया है और निश्चय के साथ कह भी दिया है—

ता दिन ते वृषभानु नन्दिनी अनत जान नहिं दीन्हें।
सूरदास प्रभु प्रीति पुरातन यहि विधि रस वश कीन्हें।

—सूरसागर १०-८५।

राधा-कृष्ण वस्तुतः एक ही हैं, ऐसा मानने में किसी को आपत्ति नहीं, परन्तु विवाद इस बात का है कि राधा-माधव का सम्बन्ध क्या था, पति-पत्नी वा प्रिय-प्रिया का। सूरदास का शृंगार इतना सयत है कि लोग उसको देखकर यह नहीं कहते कि यह हितकर नहीं है। सूरदास ने यह भी स्पष्ट कह दिया है कि जिसको रास कहते हैं वास्तव में वह गन्धर्व-विवाह है। इस गधर्व-विवाह के कारण लोग राधा को परकीया नहीं मानते, और अधिकार के साथ कहते हैं कि सूरदास परकीयावादी नहीं थे। परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं जँचता कारण यह कि सूरदास ने रास का जो वर्णन किया है वह गुप्त-लीलाके रूप में। उन्होंने इस गुप्त-लीला को कभी प्रगटकर सबके सामने नहीं दिखाया है। परकीया और स्वकीया का सीधा भेद यही है कि परकीया का प्रेम गुप्त होता है और स्वकीया का प्रकट। परकीया भी दो रूपों में हमारे सामने आती है। एक तो कन्या अथवा अनूढ़ा के रूप में और दूसरी विवाहिता अथवा ऊढ़ा के रूप में। सूरदास की राधा अनूढ़ा अथवा कन्या हैं इसमें सन्देह नहीं। सूरदास ने राधा और कृष्ण की प्रथम केलि का जो वर्णन किया है वह इस गन्धर्व-विवाह से बहुत पहले का है। सूरदास लिखते हैं—

नंद गए खरिकहिँ हरि लीन्हें।
देखि तहाँ राधिका ठाढ़ी, बोलि लिये तिहि चीन्हे।
मगर कह्यो खेलौ तुम दोऊ, दूरि कहूँ जिन जैहौ॥
गनती करत ग्वाल गयन की, मोहिं नियरौं तुम रैहौ॥
सुनि बेटी वृषभानु महरि की, कान्हहिं लेइ खिलाय॥
सूर स्याम कौं देखे रहिहौ, मारै जनि कोउ गाइ॥

—सभा सं०—१२९८।

नन्द ने कृष्ण को राधिका के हाथ सौंपा क्या राधा को अच्छा अवसर हाथ लगा। परिणाम यह हुआ कि नन्द ने राधिका से फिर कहा कि कृष्ण को साथ घर ले जा। कारण कि—

पवन झकझोर, चपला-चमक चहुँ ओर,
सुवन तन चितै नंद डरत भारी।
कह्यो वृषभानु की कुँवरि सों बोलि कै,
राधिका कान्ह घर लिए जारी।

—सभा सं०—१३०२।

इससे हुआ यह कि—

नवल गुपाल, नवेली राधा, नये प्रेम-रस पागे।
अन्तर बन बिहार दोउ क्रीडत, आपु-आपु अनुरागे।
सोभित शिथिल वसन मनमोहन, सुखवत श्रम के पागे॥
मानहुँ बुझी मदन की ज्वाला, बहुरि प्रजारनि लागे।
कबहुँक बैठि अंस भुज धरि कैं, पीक कपोलनि पागे॥
अति रस रासि लुटावत लूटत, लालचि लाल सुभागे।
नहिं छूटति रति रुचिर भामिन, वा रस में दोऊ पागे॥

—सभा सं०—१३०४।

इससे स्पष्ट है कि राधा और कृष्ण की क्रीड़ा का आरम्भ रास-लीला के बहुत

पहले ही हो गया था और समय समय पर गुप्त रूप से किसी न किसी व्याज से यह केलि सदा होती भी रही थी। सूरदास ने जो कुछ किया वह यह नहीं था कि परकीया को स्वकीया बना दिया, प्रत्युत यह था कि उन्होंने परकीया-प्रेम को इस ढंग से अंकित किया उसमें किसी प्रकार का कलमष नहीं रहा। सूर ने पहली बात तो यह की कि उन्होंने राधिका को अन्य गोपियों से अलग रखा। गोपियों का स्वरूप यह था कि स्वयं कृष्ण को उनसे कहना पड़ा—

यहि विधि वेद मारग सुनो।
कपटि तजि पति करौ पूजा कहा तुम जिय गुनौ।
कंत मानहु भव तरौगी और नहिं न उपाय।
ताहि तजि क्यों विपिन आई कहा पायौ आइ।
विरध अरु बिन मगहूँ को पतित जो पति होइ।
जऊ मूरख होइ रोगी तजै नाहि कोइ।
इहै मैं पुनि कहत तुमसौ जगत मे यह सार।
सूर पति सेवा बिना क्यों तरौगी ससार।

—सूरसागर, पृष्ठ ४३३, १०-२।

गोपियों का वचन है—

तुम पावत हम घोष न जाहिं।
कहा जाहि लेहैं ब्रज में हम यह दरशन त्रिभुवन मैं नाही।
तुमहू ते ब्रज हितू कोऊ नहि कोटि कहौ नहि मानैं।
काके पिता मात है काके काहू हम नहिं जानै।
काके पति सुत मोह कौन को घर है कहाँ पठावत।
कैसो धर्म पाप है कैसो अस निराश करावत।
हम जानै केवल तुमहि कौ और वृथा संसार।
सूर श्याम निठुराइ तजिये वचन विसारि।

—सूरसागर, पृ० ४३४, ७।

फिर क्या था उनकी बात रही और उनका व्रत पूरा हुआ। और—

रस वस स्याम कीन्ही नारि ।
अधर रस अचवत परस्पर संग सब ब्रजनारि ॥
काम आतुर भजीं बाला सबन पुरईं आश ।
एक इक ब्रजनारि इकइक आप कर्‍यो प्रकाश ॥

—सूरसागर, ४४०-४९ ।

हाँ, 'कोक-विलास' तो सबके साथ हुआ पर पाणिग्रहण हुआ केवल वृष-भानुतनया के साथ । सूरदास कहते हैं—

श्री लाल गिरधर नवल दूलह, दुलहनी श्री राधा ।

—सूरसागर- ४४२ ।

साथ ही उनका यह भी कथन है—

जाको व्यास वरणत रास ।
है गन्धर्व-विवाह चित्तदै सुनो विविध विलास ।

—सूरसागर-४४१ ।

सूरदास ने दुलहिनि का पद केवल राधा को दिया है और विवाह का सारा उपचार भी उन्हीं के साथ हुआ है । फलतः राधा-कृष्ण अन्यों से अलग दिखाई देते हैं । किन्तु ध्यान रहे उनका विवाह भी गन्धर्व-विवाह के रूप में ही है किसी अन्य विवाह के रूप में नहीं । इस विवाह में गोपियों का योग है, प्रकृति का योग है, विधाता का योग है, देवता का योग है, काम का योग है पर माता-पिता का सक्रिय योग नहीं, समाज का सहयोग नहीं । अतः इसको स्वकीया का प्रकट विवाह नहीं कह सकते । इससे इतना अवश्य हो जाता है कि यह उच्छृंखल वासना के रूप में न होकर विहित भावना के रूप में हमारे सामने आता है और राधिका शेष नारियों से भिन्न दिखाई देती हैं ।

सूरदास ने यह भी किया है कि आरम्भ से ही नन्द और यशोदा के हृदय में यह भावना उत्पन्न कर दी है कि राधिका कृष्ण के योग्य है । दोनों का विवाह हो जाता तो अच्छा था । यही वृषभानु के घर की भी स्थिति है । इसका प्रभाव

यह पड़ता है कि हम इस जोड़ी की काम-केलि को अश्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते और यह मान लेते हैं कि यही तो होने को है। यही तो सब लोग चाहते भी हैं। राधिका पर फटकार पड़ती है। उसकी लोक-निन्दा होती है परन्तु उसकी चातुरी से उसकी निभ जाती है और किसी न किसी बहाने कहीं न कहीं राधा-कृष्ण का समागम हो ही जाता है। सच तो यह है कि सूरदास ने गुप्त-लीला को प्रकट-लीला से सर्वथा भिन्न रक्खा है और समय समय पर बराबर यह बताते रहे हैं कि विलास और आनन्द के हेतु ही एक प्राण दो शरीर में विभक्त हो गया है। और वही राधा कृष्ण के रूप में नित्य रस-लीला कर रहा है। नित्य-लीला की दृष्टि से पाणि ग्रहण का कोई प्रश्न नहीं। और रस के दृष्टि से परकीया का महत्त्व मान्य है ही। समाज की दृष्टि से भी सूर ने उसको निखार कर रखने का प्रयत्न किया है और इसमें सफल भी हुए हैं। उसकी सफलता इसी निखार, इसी योजना और इसी विधान में है, कुछ स्वकीया और परकीया के भेद में नहीं।

सूर का शृंगार प्रबन्ध के रूप में चला है और एक प्रसंग के उपरान्त दूसरा प्रसंग बराबर आता रहा है। कृष्ण के प्रति गोपियों का जो रति भाव है वह बराबर धीरे धीरे बढ़ता गया है और अन्त में 'महारस' का प्राप्ति में मग्न हो गया है। सूरदास के कृष्ण उनके साथ भाँति भाँति की केलि करते हैं। उनकी केलि का रंग भी अलग अलग होता है और ढंग भी। कृष्ण किस ढब से गोपियों को खिझाते, बुलाते और रिझाते हैं इसे 'सूरसागर' में कहीं भी देखा जा सकता है उसके विषय में कुछ विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं। बस, उनके मुरलीधर की एक छटा देख लीजिये और फिर उनके मर्म को समझिये। उनसे किसी सखा की प्रार्थना है—

छबीले मुरली नेक बजाउ।
बलि बलि जात सखा यह कहि कहि अधर सुधारस प्याउ।
दुर्लभ जन्म दुर्लभ बृन्दावन दुर्लभ प्रेमतरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है श्याम तुम्हारो संग।
विनती करहिं सुबल श्री दाम सुनहु दै कान।

जा रस को सनकादि शुकादिक करत अमर मुनि ध्यान ॥
कब पुनि गोप भेष ब्रज धरिहौ फिरिहौ सुरभिन साथ ।
कब तुम छाक छीन कै खैहौ हो गोकुल के नाथ ॥
अपनी अपनी कंध कमरिया ग्वालन दई डसाय ।
सौहँ दिवाइ नन्दबबा की रहे सकल गइ पाय ॥
सुनि सुनि दीन गिरा मुरलिधर चितए मुख मुसकाए ।
गुणगंभीर गोपाल मुरलि कर लीन्हो तबहि उठाए ॥
धरि करि बेनु अधर मन मोहन कियो मधुर ध्वनि गान ।
मोहे सकल जीव जल थल के सुनि तरयो तन प्रान ॥
चपल नयन भ्रकुटी नासापुट, सुनि सुन्दर मुख बैन ।
मानहु नृत्यक भाव दिखावत गति लिय नायक मैन ॥
चमकत मोर चन्द्रिका माथे कुंचित अलक सुभाल ।
मानहु कमल कोष रस चाखत उडि आए अलिमाल ॥
कुंडल लोल कपोलन झलकत ऐसी शोभा देत ।
मानहुँ सुधासिन्धु में क्रीडत मकर पान के हेत ॥
उपजावत गावत गति सुन्दर अनाघात के ताल ।
सरबस दियो मदन मोहन को प्रेम हरषि सब ग्वाल ॥
शोभित बैजंती चरणन पर श्वास पवन झकोरि ।
मनहु ग्रीव सुरसरि बहि आवत ब्रह्म कमंडलु फोरि ॥
हुलति लता नहि मारुत मन्दगति सुनि सुन्दर मुख बैन ।
खग मृग मीन अधीन भय सब कियो यमुन जल सैन ॥
झलमलात भृगु की पद रेखा सुभग साँवरे गात ।
मानो षट विधु एक रथ बैठे उदय कियो अधरात ॥
बाँके चरण कमल भुज बाँके अवलोकनि जु अनूप ।
मानहु कल्प तरोवर बिरवा आनि रच्यो सुर भूप ॥
आयसु दियो गुपाल सबन को सुखदायक जिय जान ।

सूरदास चरणन रज माँगत निरखत रूपनिधान ॥

—सूरसागर, पृ० ५३६, २४।

सारांश यह कि व्रज में जो कुछ रस-केलि हुई इस मुरली और इस रूप के कारण ही। इस रूप और इस मुरली को सूर ने जिस-जिस ध्वनि में देखा है उस पर विचार करना स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। संक्षेप में यही सूर का सर्वस्व है। संयोग में भी और वियोग में भी, मान में भी और प्रवास में भी, घर में भी और बाहर भी।

सूरदास की दानलीला, मानलीला, चीरहरण लीला आदि लीलाओं को देखने से पता चलता है कि उनका इस रसराज पर कितना अधिकार था। साथ ही झूला, हिंडोला और होली का वर्णन भी कुछ कम रोचक नहीं है। व्रज की होली आज भी प्रसिद्ध है। इस होली के वर्णन में वसन्त का जो वर्णन आया है वह कितना सटीक है इसे जानना हो तो सूरदास का यह पद सुनें—

सुन्दर वर सनि ललना विहरी वसन्त सरस ऋतु आई।
लै लै छरी कुँवरि राधिका कमल नयन पर धाई ॥
द्वादश वन रतनारे दिखियत चहुँ दिश टेसू फूले।
मौरे अँबुवा अरु द्रुम बेली मधुकर परिमल भूले ॥
सरिता शीतल बहत मन्द गति रवि उत्तर दिश आयो।
प्रेम उमंग कोकिला बोली बिरहिन बिरह जगायो ॥
ताल मृदंग बीन, बाँसुरी ड़फ गावत मधुरी बानी।
देत परस्पर गारि मुदित ह्वै तरुणी बाल सयानी ॥
सुरपुर, नरपुर नागलोक जल थल क्रीणा रस पावै।
प्रथम वसंत पंचमी बाला सूरदास गुण गावै ॥

—सूरसागर पृ० ५४८-९२।

इसमें वसन्त ऋतु किंवा वसन्त-पंचमी का जो रूप अंकित हुआ है वह प्रकृति और जीवन के सभी अंगों को लिए हुए है और है व्रज की होली के सर्वथा अनु-

कूल। इस होली में कृष्ण की कैसी गति बनती है इसे भी देख लेना चाहिये। कहते हैं—

खेलत श्याम फाग ग्वालन सन।
एक गावत एक नाचत एक करत बहु रंग॥
बीन मुरज उपंग मुरली झाँझ झलरि ताल।
पढत होरी बोलि गोरी निरखि कै ब्रजबाल॥
कनककलसन घोरि केसरि करलिए ब्रजनारि।
जबहि आवत देखि तरुनिन भजत दै किलकारि॥
दुरिरही एक घोरि ललिता उतते आवत श्याम।
धरे भरि आँकवारि औचक धाय आय ब्रज वाम॥
बहुत ढीठो दैरदे हौ जनबी अब आजु।
राधिका दुरी हँसत ठाडी निरखि पिय मुख लाजु॥
लियो कादू मुरलि करते कोउ गह्यो पटपीट।
गूथि बेना माँग पारे लोचन आँज अनीति॥
गये करते छटक मोहन नारि सब पछितात।
शीश ध्वनि कर मीज बोलत भली लैगै भाँति।
दाँव हम नहिं देन पायो वसन लेती लाल।
सूर प्रभु कहाँ जाउगे अब हम परी यह ख्याल॥

—सूरसागर, पृ०-५५५-१५।

एक एक तिथि को लेकर सूरदास ने होली का जो रंग उडाया है वह साहित्य क्षेत्र में अनूठा है। इधर यह रंग ब्रज में उड रहा था उधर कंस को कुछ और ही चिन्ता ने आ घेरा। ब्रज के लोग नहीं चाहते कि कृष्ण इस होरी में इस धमार को छोड कर कहीं अन्यत्र जायँ और राधिका तो चाहती ही नहीं कि कृष्ण होरी छोड कर मधुबन की यात्रा करें।—

सूर रसिक मण राधिका हरि होरी है।
कहि गिरधर सों बात अहो हरि होरी है।

श्याम कृपा करि ब्रज रहौ हरि होरी है।
बरजति मधुबन जात अहो हरि होरी है।

—सूरसागर, पृष्ठ-५७१, २८।

श्याम का अवतार केवल ब्रज-विलास के लिये ही तो था नहीं कि वह कहीं न जाते और सदा ब्रज में ही विचरते रहते। निदान दुष्ट-दलन के लिये उन्हें मथुरा जाना पड़ा और वहाँ जाते ही पक्के मथुरिया भी बन गये। उनके वियोग में ब्रज की जो दशा हुई उसको सूर ने अपनी सधी आँखों से ऐसा देखा कि उसकी साध सबको लग गई। यशोदा चाहती है और सूर उसे वाणी का रूप देते हैं—

यशोदा बार-बार यों भाखै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारो चलत गुपालहि राखै॥
कहा काज मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलाए।
सुफलक सुत मेरे प्राण हतन को काल रूप ह्वै आयो॥
बरू ए गोधन हरौ कंस सब मोहिं बन्दि लै मेलौ।
इतने ही सुख कमल नैन मेरी अँखियन आगे खेलौ॥
वासर वदन विलोकत जीवों निश निज अंकम लाऊँ।
तेहि बिछुरत जो जिवौं कर्मबश तौ हसि काहू बुलाउ।
कमल नैन गुन टेरत टेरत अधर वदन मुरझानी॥
सूर कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ दुखित नंदन की रानी।

—सूरसागर पृ० ५८२-११।

इस प्रसंग को और बढ़ाने के पहले ही इतना निवेदन कर देना है कि एक दिन अकबर की नवरत्नी सभा में इस बार-बार की चर्चा छिड़ी और किसी ने इसका कुछ अर्थ किया तो किसी ने कुछ पर किसी को यह न रुचा कि इसका अर्थ स्वयं सूरदास से पूछ लिया जाय। सूझता भी कैसे! उस समय सूरदास तो थे ही नहीं। जो लोग सूरदास का किसी प्रकार अकबरी दरबार से कोई न कोई नाता अवश्य जोड़ना चाहते हैं उनको इस बात पर विचार करना

चाहिये कि इस अवसर पर किसी को सूरदास की चिन्ता क्यों नहीं हुई और क्यों नहीं किसी प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थ में अकबर और सूर के सत्संगका कोई उल्लेख मिलता है।

सूर ने विरह का वर्णन अनेक अवसरों पर अनेक रूपों में किया है किन्तु उनके विरह का सच्चा रूप दिखाई देता है कृष्ण के प्रवास में। इस प्रवास के वर्णन में सूर ने कुछ उठा नहीं रक्खा। सूर के संयोग पक्ष में जो मुरली का स्थान है वियोग पक्ष में वही मधुकर का है। मधुकर का प्रसंग बहुत सोच समझ कर निकाला गया है। माना कि 'वेणु-गीत' और 'भ्रमर-गीत' की कल्पना सूर की अपनी नहीं तो भी इतना तो सभी लोगोंको मानना ही होगा कि सूरके 'मुरली-गीत' और 'भ्रमर-गीत' में बहुत कुछ उनका अपना है। 'भ्रमर-गीत' से सूर ने जो कार्य साधा है वह उस समय की स्थिति के सर्वथा अनुकूल और भागवतमत के प्रचार के लिये सर्वथा उपयोगी है। महन्तों ने उस समय सन्तमत को ऐसा दबोच लिया था कि किसी से कुछ करते नहीं बनता था। गोरख की विभूति भी ऐसी जगी थी कि उसके सामने कोई किसी को कुछ समझता ही नहीं था। कबीर आदि मनमौजी सन्तों ने एक ऐसी लीक निकाल ली थी जो मन-मानी बातों के आधार पर निर्गुण की ऐसी भित्ति खड़ी कर रही थी जिसकी ओट में सभी कुछ कहा जा सकता था किन्तु जिसका सच्चा रूप कभी जनता के सामने नहीं आ पाता था। सूरदास से ऐसी हृदय की हानि नहीं देखी गई। और फलतः उन्होंने गोपियों के द्वारा इसको उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। 'भ्रमर-गीत' में यह प्रयत्न प्रत्यक्ष होकर बोल पड़ा है और उनकी मृदुल बाणी मुखर हो उठी है। सूरदास के उद्धव 'निठुर-जोगी-जंग' हैं। उनके कृष्ण मधुपुरी में बैठ कर झंखते और अपने सखा उद्धव के सम्बन्ध में सोचते हैं—

यदुपति जानि उद्धव रीति।
जिह प्रगट निज सखा कहियत करत भाव अनीति॥
बिरह दुख जहाँ नाहिं जामत नहीं उपजै प्रेम।
देख रूप बरन जाके यही धरयो यहि नेम॥

त्रिगुण तन करि लखति हमको ब्रह्म मानत और।
विना गुण क्यों पुहुमि उधरै यह करत मन डौर॥
विरह रस के मन्त्र कहिये क्यों चलै संसार।
कछु कहत यह एक प्रगटत अति भयौ अहंकार॥
प्रेम भजन न नेकु याके जाइ क्यों समुझाय।
सूर प्रभु मन रहै आनि व्रजहि देउँ पठाय॥

—सूरसागर, पृ० ६३९-९।

इतना ही नहीं, कुछ और भी, और मार्मिक वेदना के साथ। कहते हैं—

यह अद्भुतदरसी रंग।
सदा मिल एक साथ बैठत चलत बोलत संग॥
बात कहत न बनत यासौं निठुर योगी जंग।
प्रेम सुनि विपरीत भाषत होत है रस भंग॥
सदा व्रज को ध्यान मेरे रास-रंग तरंग।
सूर वह रस कहौ कैसौ मिल्यो सखा भुरंग॥

—सूरसागर, पृ० ६३९-१०।

अन्त में उपाय यह सूझता है कि इसको व्रज में भेज दिया जाय और यह जाकर गोपियों से मधुर-रस सीख आये। किसी ज्ञानी से तो यह ठीक हो नहीं सकता। फिर क्या था? तुरत कहा—

ऊधौ, तुम बेग ही व्रज जाहु।
सुरति संदेश सुनाई मेटो वल्लभन को दाहु॥
काम पावक तुलित मन में विरह श्वास समीर।
भस्म नाहिन होन पावत लोचनन के नीर॥
आँजुलौ इहि भाँति है वा कछुक श्वास समीर।
एते पर बिना समाधाहैं क्यों धरै तिय धीर॥
बार बार कहा कहौ तुमसो सखा साधु प्रवीन।

सूर सुमति विचारिये जिहि जियै जल बिनु मीन ॥

—सूरसागर, पृ० ६४१, २० ।

उद्धव अपनी योग-माया में इतने मग्न थे कि कृष्ण की मर्मभेदी वाणी को समझ न सके । न तो उन्होंने 'सुरति-सन्देश' को समझा और न 'जियै जल बिनु मीन' को ही । झट समाधान क्या, प्रबोधन के निमित्त चल पड़े ।

कृष्ण ने अपने पत्र में किसको क्या लिखा इसको लेकर क्या कीजियेगा पर इतना तो जान ही लीजिये कि उनकी कुब्जा का कहना है—

ऊधौ ब्रजहि जाहु पालागौ ।
यह पाती राधा कर दीजौ यह मैं तुमसो माँगौ ॥
गारी देहि प्रात उठि मोको सुनत रहत यह बानी ।
राजा भये जाइ नदनदन मिली कूबरी रानी ॥
मो पर रिस पालत काहे को बरज श्याम नहीं राख्यो ।
लरिकाइ ते बाँधत यशुमति कहा जु माखन चाख्यो ॥
रजु लै सबै हुजूर होत तुम सहित सुधा बृषभान ।
सूरश्याम बहुरो ब्रज जैहै ऐसे भये अजान ॥

सूरसागर, पृ० ६४३-३६ ।

इतना ही नहीं, कुब्जा और भी आगे बढ़ती और कस कर कहती है—

सुनियत ऊधौ लिये सदेसो तुम गोकुल को जात ।
पाछे करि गोपिन सो कहियो एक हमारी बात ॥
मात पिता को नेह समुझि कै श्याम मधुपुरी आए ।
नाहिन काहू तुम्हारे प्रातम ना यशुमति कै जाए ॥
देखो बूझि आपने जिय में तुम माधो कौन सुख दीने ।
ए बालक तुम मत्तग्वालिनी सबै मुंडकरि लीने ॥
तनक दही माखन के कारण यशुदा त्रास दिखावै ।
तुम हँसि सब बाँधन को दौरी काहू दया न आवै ॥
जो वृषभानु सुता उन कानी सो सब तुम जिय जानो ।

ताही लाजत ज्यो व्रज-मोहन अब काहे दुख मानो ॥
सूरदास प्रभु सुनि सुनि बातें रहे श्याम सर नाये ।

—सूरसागर, पृ० ६४३-३९ ।

कृष्ण की इस दक्षिण लीला को यहीं छोड़िये और देखिये यह कि—

आज कोउ नीकी बात सुनावै ।
कै मधुवन ते नन्द लाडिले कै वपूत कोउ पावै ॥
भौरा इक चहुँदिश ते उडि उडि कान लागि कछु गावे ।
उत्तम भाषा ऊँचे चढ़ि चढ़ि अंग अंग सगुनावै ॥
सूरदास कोउ बृज ऐसो जो बृजनाथ मिलावै ।

—सूरसागर, पृ० ६४५, ४७ ।

सगुन तो अच्छा हुआ पर दर्शन हुआ योग का। यह योग सगुण संयोग नहीं, यह तो निर्गुण का 'जोग' है। उद्धव देखने में कृष्ण के अनुरूप ही थे किन्तु उनका पक्ष था उनके सर्वथा प्रतिकूल। निदान गोपियों को विवश हो कहना पड़ा—

आये नंदनंदन के भेव ।
गोकुल माँझ योग विस्तारयो भली तुम्हारी जेव ॥
जब बृन्दाबन रास रच्यो हरि तबहिं कहाँ तुम देव ।
अब यह ज्ञान सिखावन आये भस्म अधारी सेव ॥
अबलन को लै सो बृत ठग्यो जो योगिन को योग ।
सूरदास ए सुनति न जीवहि अतुर विरह वियोग ॥

—सूरसागर, पृ० ६५०, ८३ ।

बात आन की आ पड़ी थी। सूरदास को दोनों रूपों में हठयोग को उखाड़ना था। साधना के रूप में भी और सिद्धांत के रूप में भी। साथ ही हठयोगी की निजी करतूत को भी अछूती नहीं छोड़ना था। अतएव—

यहि अन्तर मधुकर इक आयो ।
निज स्वभाव निकट होई, सुन्दर शब्द सुनायो ॥

पूछन लगीं ताहि गोपिका कुब्जिा तोहिं पठायो।
किधौं सूर श्याम सुंदर को हमें सँदेशो ल्यायो ॥

—सूरसागर, पृ० ६५०-८४।

मधुकर का आना था कि गोपियाँ उस पर बरस पड़ीं। यह सन्देश का मधुकर जो था, शकुन का नहीं। फलतः इसकी पूजा भी पक्की हुई। गोपियों ने छूटते ही उससे पूछा।

मधुकर कहा यहाँ निर्गुण गावै।
ऐ प्रिय कथा नगर वासिन सों कहहिं जहाँ कछु पावहि ॥
जिन परिसहि अब चरन हमारे विरह ताप उपजावहि।
सुन्दर मधु आनन अनुरागी नैनन आनि मिलावै ॥
जनति मर्म नन्दनन्दन को और प्रसंग चलावहि।
हम नाहिन कमलासी भोरी करि चातुरी मनावहि ॥
अति विचित्र लरिका की नाईं गुरु दिखाइ बौरावईं।
ज्यों अलि कितव सुमन रस लै तजि जाय बहुरि नहिं आवै ॥
नागर रति पति सूरदास प्रभु कहि विधि आन मिलावहि ॥

—सूरसागर, पृ०-६५०-८५

और—

मधुकर, हमहीं क्यों समझावत।
बारम्बार गीत ज्ञान ब्रज अबलन आगे गावत ॥
नन्दनन्दन बिनु कपट कथा ऐ कति कहि रूचि उपजावत।
स्रक चन्दन जे। अंग सुधा रत कहि कैसे सुख पावत ॥
देखि विचार तहीं ब्रज अपने नागर हो जुकहावत।
सब सुमनन पर फिरत निरख करि काहे कमल बँधावत।
चरण कमल कर नयन कमलकर फिरत निरख करि काहे कमल बँधावत।
सूरदास मनु अलि अनुरागी केहि विधि हौ विष हो वहिरावै।

—सूरसागर, पृ० ६५०-८९

इतना होने पर भी मधुकर के प्रति गोपियों का भाव जो कुछ बना रह जाता है उसका कारण है उसके रंग में श्याम के रंग का वास होना। कहती हैं—

मधुकर कहाँ पढ़ो यह रीति।
लोक वेद श्रुति पन्थ रहित सब कथा कहति विपरीति॥
जन्मभूमि ब्रज सखी राधिका केहिं अपराध तजी।
अति कुलीन गुणरूप अमित सुख दासी जाइ भजी॥
योग समाधि वेद गुण मारग क्यों समुझै जु गँवारि।
जो पै गुण अतीत व्यापक है तोहिं कहाँ है प्यारि॥
रहि अलि ढीठ कपट स्वारथ हित तजि बहुबचन विशेषि।
मन क्रम बचन बचति यहि नाते सूरश्याम तब देखि॥

—सूरसागर, पृ० ६५१-९५

जन्मभूमि, ब्रज, सखी और राधिका के प्रति सूरदास के जो भाव हैं उनको भलीभाँति समझ लेने से सूर सागर का सारा रस सहज ही प्राप्त हो जाता है। सबसे पहले जन्मभूमि को लीजिये। सूरदास की दृष्टि में जन्म-भूमि का जो माहात्म्य है वह बैकुण्ठ से भी बढ़कर है। उनके राम की दृष्टि में—

हमारो जन्मभूमि यह गाउँ।
सुनहु सखा सुग्रीव-विभीषन, अवनि अजोध्या नाऊँ।
देखत नब-उपबन सरिता सर, परम मनोहर ठाऊँ॥
अपनी प्रकृति लिये बोलत हौं, सुरपुर मैं न रहाऊँ।
ह्याँके बासी अवलोकत हौं, आनन्द उर न समाऊँ॥
सूरदास जौ विधि न सँकोचै, तौ बैकुण्ठ न जाऊँ।

—सूरसागर, पृ० ६०९

ब्रज, सखी और राधिका की कहानी तो उद्धव के मुँह से सुनी जायगी। अभी देखना यह है कि उद्धव का मूल सन्देश था क्या और गोपियों ने उसे ग्रहण किस रूप में किया। उद्धव का प्रवचन है—

सुनहु गोपी हरि को सन्देश।
करि समाधि अन्तर्गति ध्यावहु यह उनको उपदेश॥
पै अविगत अविनाशी पूरण सब घट रहे समाइ।
निर्गुण ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है वेद पुरावन गाइ॥
सगुण रूप तजि निर्गुण ध्यावे इक चित इक मन लाइ।
यह उपाव करि विरह तरौ तुम मिलैं ब्रह्म तब आइ॥
दुसह सन्देश सुनत माधो को गोपीजन बिलखानी।
सूर विरह की कौन चलावै बूड़त मीन बिन पानी॥

—सूरसागर, पृ० ६५०, ८८

गोपियों का पक्ष है—

हम अलि गोकुल नाथ अराध्यौ।
मन बच क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेम-योग तप साध्यौ॥
मात पिता हित प्रीत निगम पथ तजि दुख सुख भ्रम नाख्यो।
मानापमान परम परितोषन सुस्थल थिति मन राख्यो॥
सकुचासन कुल शील करषि करि जगत बंध करि बन्धन।
मौन उपवाद पवन आरोधन हित कर काम निकंदन॥
गुरुजन काम अग्नि चहुँ दिश नभ तरनि ताप बिनु पेखे।
पिवत धूम उपहास जहाँ तहँ अपयश श्रवण अलेखे॥
सहज समाज विसारि वपु करी निरखि निमेष न लागत।
परम ज्योति प्रति अंग माधुरी धरत इहै निशि जागत॥
त्रिकुटी संग भ्रूभंग नराटक नैन नैन अनुरागै।
हँसनि प्रकाश सुमुख कुंडल मिलि चन्द्र लगालगि लागै॥
मुरली अधर श्रवण ध्वनि सो सुनि शब्द अनहद करि कानै।
बरषत रस रुचि बचन संग सुख पद आनन्द समानै॥
मन्त्र दियो मन जात भजन लगि ज्ञान ध्यान हरि ही को।

सूर कहौ गुरु कौन करै अलि कौन सुनै मत फीको ॥

—सूरसागर, पृ० ६५४·१४

उद्धव जिस योग का बीड़ा खाकर आये थे उसको सहज में ही छोड़ नहीं सकते थे। जैसे-तैसे गोपियों को योग का लुक-अंजन देकर जाना चाहते थे। उधर गोपियों को बकवास भाती नहीं थी। निदान खीझ कर उन्हें कहना पड़ा—

ऊधौ तुम हौ निकट के वासी।
यह निर्गुण लै ताहि सुनावहु जे मुड़िया बसैं कासी ॥
मुरली अधर सकल अंग सुन्दर रूप सिन्धु को रासी।
योग कटोरे लिये फिरत हौ व्रज बासिन की फाँसी ॥
राजकुमार भले हम जानै घरमें कंस की दासी।
सूरदास यदुकुलहि लजावत व्रज में होत है हाँसी ॥

—सूरसागर, पृ० ६६७:८

'जे मुड़िया बसैं कासी' का संकेत केवल इसी काशी से नहीं है, अपितु सहस्रार की हठयोगी काशी से भी है। गोपियों ने नाना रूपों में नाना प्रकार से उद्धव के योग का खण्डन किया है और सभी प्रकार से यह दिखा दिया है कि निर्गुण चाहे जिस किसी के लिए हो पर गोपियों के लिए तो वह नहीं है। कभी उद्धव की सांत्वना के लिए इतना भी कह जाती हैं कि आपकी बात गले के नीचे तो नहीं उतरती तो भी आपकी शांति के लिए उसको मान लिया जाता किन्तु अड़चन यह आ पड़ी है कि इन्द्रियाँ साथ नहीं देतीं। आँख रूप चाहती है, और कान वाणी। और मन तो कृष्ण रंग में इतना डूब चुका है कि उस पर कोई दूसरा रंग चढ़ता ही नहीं। जो हो सो हो, पर यह हो नहीं सकता कि गोपियों के मन में किसी निर्गुण का वास हो। उनका अचल विश्वास और निश्छल भाव तो यह है—

ए अलि जन्म-कर्म गुण गाये।
हम अनुरागी यशुमति सुत की नीरस कथा बहाये ॥

कैसे कर गोवर्धन धार्यो कैसे केशी मार्यो।
काली दमन कियो कैसे अरु बकको वदन विदार्यो॥
कैसे नन्द महोत्सव कीनो कैसे गोपी धाये।
पट भूषण नाना भाँतिन के व्रज युवतिन पहिराये॥
दधि माखन के भाजन कैसे गोप सखा लै धाए।
बनको धातु चित्र अंग कीनो नाचत मेष सुहाए॥
तबते कछु न सुहाए कान्ह बिनु युग सम बीतत याम।
सूर मरहिगी विरह-वियोगिनी रटि-रटि माधो नाम॥

—सूरसागर, पृ० ६८८-५९

और सन्देश यह—

ऊधौ हम दोउ कठिन परी।
जो जीवैं तो मुनि जड़ ज्ञानी तनु तजि रूप हरी॥
गुण गावैं तो शुक सनकादिक धाय लीला करी।
आशा अवधि विचारी रहैं तौ धर्म न व्रज सुन्दरी॥
सखी मण्डली सब जो सयानी विरहा प्रेम भरी।
शोक समुद्र तरिबे को नौका जे मुख मुरली धरी॥
निशि कर सूर निर अकुश अति बड़ मातो मदन करी।
ढाहत धाम सूर प्रभु चितवत गमन करै केसरी॥

—सूरसागर, पृ० ६९८-२८

परिणाम यह हुआ कि उद्धव कृष्ण के रंग में रँग गये और योग का ठाट भूल कर कृष्ण के हो रहे। किन्तु उनकी दशा देखने के पहले माधव से उनका कथन सुन लीजिये।

माधौ जू सुनिये व्रज व्योहार।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो गावत नन्दकुमार॥
एक ग्वालि गोसुत ह्वै रेंगति एक लकुट कर लेति।
एक ग्वालि नटवत बहु लीला एक कर्म गुण गावति॥

बहुत भाँति करि मैं समुझाई नेकु न उर में आवति ।
निशि वासर यही ढंग सब व्रज दिन-दिन नतवत प्रीति ॥
सूर सकल फीको लागत है देखत वह रंग रीति ॥

—सूरसागर, पृ० ७२४८४ ।

यह तो हुई गोपियों की लीलासक्ति । राधा की स्थिति तो यह है कि उससे उद्दीपन की सच्ची बात भी नहीं कही जाती—

बातैं बूझत यौं बहरावति
सुनहु श्याम वैसखी सयानी पास ऋतु राधहि न सुनावति ।
घन गर्जत मनु कहत कुशलमनि कूँजत गुहासिंह समुझावति ।
नहिं दामिनी द्रुम दवाशैल चढ़िफिरि बयार उलटी झरषावति ।
नाहिन मारे बॅकपिक दादुर ग्वाल मडली खगन खिलावत ।
नहिं नभ वृष्टि झरन झर ऊपर बूँद उचटि इत आवत ।
कबहुँक प्रगट पपीहा बोलत कहि कुदेव करतारि बजावत ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिन सो बिरहनि इतनो दुःख पावति ।

—सूरसागर, पृ० ७२४-८५ ।

इस सखी का कृष्ण के जीवन से क्या सम्बन्ध रहा है इसे कृष्ण भली-भाँति जानते हैं । कभी उसके उपकार को कृष्ण भूल नहीं सकते । तो भी कृष्ण अभी उद्धव के मुख से तो यह सुनना चाहते हैं कि उद्धव का अपना मत क्या है । उद्धव से रहा नहीं जाता । खुल कर कहते हैं—

उनमें पाचों दिन जो बसिये ।
नाथ तुम्हारी सौं जिय उपजत फेरि अपनो यों कसिए ॥
वह विनोद लीला वह रचना देखे ही बनि आवै ।
मोको कहाँ बहुरि वैसे सुख बड़भागी सो पावै ॥
मनसा बचन कर्मना अब हैं कहत नहीं कछु राखी ।
सूर काढ़ि डाऱ्यो व्रजते ज्यों दूध मांझ ते माखी ॥

—सरसागर, पृ० ७२४-८९ ।

किन्तु यह तो गोपियों की बात ठहरी। अथवा किसी दूसरे पाँच दिन के व्रज-वासी की। उद्धव की अपनी अनुभूति तो यह है—

माधो जू मैं अति ही सचु पायो।
अपनो जानि संदेश साजि करि ब्रजमें मिलन पठायो।
क्षमा करो तो करों बीनती उनहि देखि जो आयो।
सकल निगम सिद्धान्त जन्मकर श्याम उन सहज सुनायो॥
नहिं श्रुति शेष महेष प्रजापति सो रस गोपिन गायो।
कथा गंग लागी मोहि तेरउह रस सिधु उमहायो॥
तुम्हरी अकथ कथा तुम जानो हमैं जिन नाथ बिसरायो।
सूरश्याम सुन्दरि इह सुनि सुनि नैनन नीर बहायो॥

—सूरसागर, पृ० ७२४-९०।

और कृष्ण का अनुताप यह—

सुनु ऊधौ मोहिं नेक न बिसरत वै व्रजवासी लोग।
तुम उनको कछु भली न कीन्ही निशि दिन दियो वियोग॥
यद्यपि वसुदेव देवकी मथुरा सकल राज सुख भोग।
तद्यपि मनहि बसत बंसीबट ब्रज यमुना संयोग॥
वै उत रहत प्रेम अवलम्बन इतते पठयो योग।
सूर उसाँस छाँडि भरि लोचन बढ्यो विरह ज्वर शोग॥

—सूरसागर, पृ० ७२५ ९२।

कृष्ण मथुरा में जाकर जिस राजनीति में पड़ गये थे उससे उनकी सहसा मुक्ति न हुई। विवशता यहाँ तक बढ़ी की अन्त में उनको द्वारिका में जा रहना पड़ा। गोपियों को उसका पता चला तो उनकी रही-सही आशा भी टूट गई और उन्होंने सचमुच अपने को अनाथ समझा—

अब निज नैन अनाथ भये।
मधुबन हुते माधो सजनी कहियत दूरि गये॥
मथुरा बसत हती जिय आशा यह लागत व्यवहार।

अब मन भयो भीम के हाथी सुपने अगम अपार ॥
सिन्धु कूज्ञ इक नगर बतावत ताहि द्वारका नाऊँ ।
यह तनु सौंपि सूरके प्रभु को और जन्म धरि जाऊँ ॥

—सूरसागर, पृ० ७५१-८४ ।

भावना तो अच्छी है पर इससे भी संयोग होता नहीं दिखाई देता कारण—

हौं कैसे कै दरसन पाऊँ ।
सुनहु पथिक वह देश द्वारिका जो तुम्हरे संग आऊँ ॥
बाहिर भीर बहुत भूपन की बूझत वदन दुराऊँ ।
भीतर भीर योग भामिनि की तेहिठाँ कौन पठाऊँ ॥
बुधि बल युक्ति जतन करि वहि पुर हरि पिय पै पहुँचाऊँ ।
अब बन बसी निकुज रसिक बिन कौनहिं दशा सुनाऊँ ॥
श्रमकै सूर जाऊँ प्रभु पासहि मन में भले मनाऊँ ।
नवकिशोर मुख मुरली बिना इन नैनन कहाँ देखाऊँ ॥

—सूरसागर, पृ० ७५१-८५ ।

ध्यान देने की बात है कि मथुरा की गली गली में दही बेचनेवाली गोपियाँ कृष्ण के विरह में तड़पती और उनके दुःख की चिन्ता करती हैं, पर कभी स्वप्न में भी हा हा खाकर न तो उनका दर्शन करने जाती हैं और न भावभरे हाथ से किसी के द्वारा माखन ही भेजती हैं । उद्धव के आने पर किसी प्रकार अपना वेष भी नहीं बदलना चाहतीं । किन्तु प्रेम वह पदार्थ है जो किसी आन को नहीं सह सकता । अस्तु कहती हैं—

जो पै लै जाय कोऊ मोंहि द्वारिका देश ।
संग ताके चलौ सजनी जटाहू करि केश ॥
बोलि धौ हरवाह पूछहु आपने संदेस ।
जैसेही जो कहै कोऊ बनै तैसे भेस ॥
यदपि हम बूजनाथ युवती यूथनाथ नरेस ।

तदपि शशिकुमुदनी सूरज रची प्रीति परेस ॥

—सूरसागर, पृ० ७५२-८९।

उधर भी ऐसी ही लगन लगी है। कृष्ण किस वेदना के साथ रुक्मिणी से कहते हैं।

रुक्मिणी चलहु जनमभूमि जाहीं।
यदपि तुम्हारो हतो द्वारका मथुरा के समनाहीं ॥
यमुनाके तट गाय चरावत अमृत जल अचवाहीं।
कुजकेलि अरु भुजा कंध धरि शीतल द्रुमकी छाहीं ॥
सरस सुगन्ध मन्द मलया गिरि विहरत कुंजन माहीं।
जो क्रीड़ा श्री वृन्दावन में तिहूँलोक में नाहीं ॥
सुरभी ग्वाल नन्द अरु यशुमति मम चित्तते न टराहीं।
सूरदास प्रभु चतुर शिरोमणि सेवा तिनकी कराहीं ॥

—सूरसागर, पृ० ७५४-४।

और इधर की दशा यह है—

बायस गहगहात सुभ वाणी विमल पूर्व दिसि बोली।
आजु मिलाओं श्याम मनोहर तू सुन सखी राधिके भोली ॥
कुच भुज अधर नयन फरकत हैं बिनहि बात अचल ध्वज होली।
सोच विचार करो मन आनन्द मानो भाग्य दशा विधिखोली ॥
सुनत सुवचन सखीके मुखते पुलकित प्रेम तरकि, गईं चोली।
सूरदास अभिलाष नन्दसुत हरषी सुभग नारि अनमोली ॥

—सूरसागर, पृ० ७५४-६।

यह शकुन निष्फल न गया। कुरुक्षेत्र से कृष्ण का दूत आया और—

नन्द यशोदा सब ब्रजवासी।
अपने अपने सकट साज कै मिलन चलै अविनासी।
कोउ गावत कोउ बेणु बजावत कोउ उतावल धावत।
हरि दरशन लालसा कारन विविध मुदित सब आवत ॥

दरशन कियो आइ हरिजी को कहत सपन की साँची।
प्रेम मानि कछु सुधि न रही अँगरहे श्याम रँग राँची॥
जासों जैसा भाँति चाहिये ताहि मिल्यो त्यों धाइ।
देश देशके नृपति देखि यह प्राण रहे अरगाइ॥
उमँग्यो प्रेम समुद्र दशहुँ दिशि परमित कही न जाइ।
सूरदास इह सुख सो जानै जाके हृदय समाई॥

—सूरसागर, पृ० ७५५-१२।

यह दल कुरुक्षेत्र में पहुँचा तो रुक्मिणी का प्रश्न हुआ—

बूझति है रुक्मिणी प्रिय इनमो को वृषभानु किशोरी।
नेक हमैं देखरावहु अपनी बालापन की जोरी॥
परम चतुर जिन कीने मोहन अल्प वैसही थोरी।
बारे ते जिहि यहै पढ़ायो बुधि बल कल विधि चोरी॥
जाके गुण गनि गुथति माल कबहुँ उरते नहि छोरी।
सुमिरन सदा बसतहीं रसना दृष्टि न इत उत मोरी॥
वह देखो युवतिवृंद में ठाढ़ी नील वसन तनु गोरी।
सूरदास मेरी मन वाकी चितवन देखि हरयोरो॥

—सूरसागर, पृ०-७५६-१६।

रुक्मिणी ने राधा को देखा तो उसका हृदय गद्‌गद हो उठा। कुब्जा और गोपियों का संघर्ष यहाँ नहीं रहा। यहाँ तो—

रुक्मिणी राधा ऐसे बैठीं।
जैसे बहुत दिनन की बिछुरी एक बाप की बेटी॥
एक सुभाउ एक लै दोऊ दोऊ हरि की प्यारी।
एक प्राण मन एक दुहुन को तनु करि देखियत न्यारी॥
निज मन्दिर लै गई रुक्मिणी पहुनाई निधि ठानी।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे जहाँ दोऊ ठकुरानी॥

—सूरसागर, पृ० ७५६ २०।

अर माधव !, उनकी कुछ न पूछिये—

राधा-माधव भेंट भई।
राधा-माधव माधव राधा कीट भृंग गति होइ जो गई॥
माधव राधा के संग राचे राधा माधव रंग रई।
माधो राधा प्रीति निरंतर रसना कहि न गई॥
बिहँसि कह्यो हम तुम नहिं अन्तर यह कहि बृज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव बृज विहार नित नई नई॥

—सूरसागर, पृ० ७५६-२१।

इस मिलन का राधा पर क्या प्रभाव पड़ा इसे उन्हीं के मुँह से सुनिये। अपनी प्यारी सखी से कहती हैं—

करत कछु नाहीं आज बनी।
हरि आए हौ रही ठगी सी जैसे चित्त वनी॥
आसन हर्षि हृदय नहिं दीन्हीं कमल कुटी अपनी।
न्यवछावर उर अरघ न अंचल जलधार जो बनी॥
कंचुकीते कूच कुगल प्रगट ह्वै टूटि न तरक तनी।
अब उपजी अति लाज मनहि मन समुझत निज करनी॥
मुख देखत न्यारेसौ रहिहौं बिनु बुधिमति सजनी।
तदपि सूर मेरी यह जड़ता मंगल माँझ गनी॥

—सूरसागर, पृ० ७५७-२२।

रहे सखा, उनसे कृष्ण का आश्वासन है—

सबहिन ते सब है जन मेरो।
जन्म जन्म सुन सुलभ सुदामा निबह्यो यह प्रण मेरो॥
बृह्मादि इन्द्रादि आदि दै जानत बलि बसि केरो।
इक उपहास ब्यास उठि चलते तजकै अपनो खेरो॥
कहा भयो जो देश द्वारका कीन्हों दूरि बसेरो।
आपुनही या बृजके कारण करिहौ फिरि फिर फेरो॥

यहाँ वहाँ हम फिरत साधहित करत असाध अहेरो।
सूर हृदयते टरत न गोकुल अंग छुअत हौं तेरो॥

सूरसागर, पृ० ७५७-२४।

सूरदास ने राधा-माधव, रुक्मिणी-राधा और कृष्ण-गोप प्रसंग को जिस रूप में उठाया, जिस ढब से निभाया और जिस ढंग से उसे शाश्वत बनाया इसको आज भी सम्यक् रूप से 'सूरसागर' में देखा जा सकता है। सूर की साधना सूर की भक्ति, सूर की कला और सूर के सिद्धान्त का यह चरम उत्कर्ष है। 'अंग छुवत हौं तेरो।' में जो बात कही गई है वह हृदय की भी है और हाथ की भी। 'यहाँ वहाँ हम फिरत साधुहित करत असाध अहेरो' में सारी अवतार-लीला बोल उठी है। तो भी विचारणीय बात तो यह है कि यह मिलन न तो व्रज में होता है और न मथुरा में ही और होता भी है तो उस कुरुक्षेत्र में जहाँ कृष्ण की घोर संहार-लीला हुई थी और जहाँ हुआ था गीता का उपदेश। कहते हैं कुरुक्षेत्र के कृष्ण बृज के कृष्ण से सर्वथा विपरीत हैं। सूरदास कहते हैं—बापुरे ने समझा ही नहीं, यहाँ भी वही रसधारा बही है जो व्रज में। कृष्ण ने वहाँ भी तो यही घोषणा रण-भूमि में की थी—

हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुनि अर्जुन परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥
भक्तनि काज लाज जिय धरि कै, पाइ पियादे धाऊँ।
जहँ जहँ भीर परै भक्तनि कौ, तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ॥
जो भक्तन सौ बैर करत, सो बैरी निज मेरौ।
देखि बिचारि भक्त हित कारन, हाँकत हौं रथ तेरौ॥
जीतैं जीति भक्त अपनें के, हारैं हारि बिचारौं।
सूरदास सुनि भक्त-बिरोधी, चक्र सुदरसन जारौं॥

—सभा सं०—२७२

कृष्ण कुरुक्षेत्र में शस्त्र नहीं गहते परन्तु साथ देते हैं अपने भक्त का ही और गीता में भी यही उपदेश देते हैं कि सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आओ।

मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा। कृष्ण की यह प्रकट-लीला है। यहाँ कोई गुप्त लीला नहीं। व्रज में प्रकट-लीला भी है और गुप्त-लीला भी। प्रकट-लीला अनित्य और गुप्त-लीला नित्य है। प्रकट रूप में कृष्ण का फेरा कब होगा यह हम नहीं कहते किन्तु गुप्त रूप में यह लीला ब्रज में सदा होती रहती है इसमें किसी भक्त को कोई सन्देह नहीं।

राधा-कृष्ण के प्रसंग में भूलना न होगा कि सूरदास ने भाँति भाँति से उनका सम्भोग कराया है और भाँति भाँति की विविध लीलाओं का विशद वर्णन भी किया है। अध्ययन की दृष्टि से टोंकने की बात यह है कि सूरदास ने राधिका के मान का जो वर्णन किया है और इसी को जिस रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है वह 'गीत-गोविन्द' के मेलमें है। प्रतीत तो ऐसा होता है कि सूर ने राधा-माधव और सखी की योजना ठीक उसी ढंग पर की है जैसी जयदेव ने गीत-गोविन्द में की है। सूरदास के जो पद दिये गये हैं उनमें कहीं न कहीं एक विशिष्ट सखी का उल्लेख भी हुआ है और सूर ने जैसे अपनी छाप के साथ जहाँ तहाँ श्याम को जोड़ लिया है वैसे ही जहाँ तहाँ सखी को भी। उनका एक पद है—

चल राधे बोलत नन्द किशोर।
ललित त्रिभंग श्याम सुन्दर घन नाचत ज्यों मन मोर॥
छिन छिन विरस करति है सुन्दरि क्यों बहरत मन मोर।
आनन्द कन्द चन्द वृन्दावन तू करि नैन चकोर॥
कहा कहौ महिमा तुअ भाग की पुण्य गनत नहिं ओर।
सूर सखी पियपै चलि नागरि लै मिलि प्राण अकोर॥

—सूरसागर, पृ० ५११, १४।

एक दूसरा पद भी इस सखी की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये ले लीजिये। कहते हैं—

मानिनि मानत क्यों न कह्यौ।
प्रथम श्याम मन चोरि नागरी अब क्यों मान गह्यौ॥

जानति कहा रीति प्रीतम की वन जम जोग मह्यो।
रुद्र वीर रवि शेष सहस मुख तिनहुँ न अन्त लह्यो ॥
बैठे नवल निकुंज मंदिर में सो रस जात बह्यो।
सूरज सखि मोहन मुख निरखहु धीरज नाहिं रह्यो ॥

—सूरसागर, पृ० ५१७-५६।

इसमें कृष्ण के जिस स्वरूप का उल्लेख है, जिस रस की चर्चा है और सूरज के साथ जो 'सखि' प्रयुक्त है उससे जहाँ कृष्ण के परम रूप और परम रस की व्यजना होती है वहीं 'सूरज' के 'सखी' भाव की भी। गुप्त रस-लीला में सूर सखी तो हैं ही मधुर-रस की इस प्रकट लीला में भा उनको उसी प्रकार सखी समझ लेना चाहिये जिस प्रकार बाल लीला के प्रसंग में ढाढी समझ लिया गया था। अपना अनुमान तो ऐसा है कि सूर का मूल नाम ही सूरज था। यथार्थ जैसा हो।

साधना के क्षेत्र में सूरदास रसवादी सखी-भाव के जीव हैं किन्तु उपासना के क्षेत्र में सेवा के रूप में बाल-कृष्ण के भक्त। बालविनोद में उनकी जो वृत्ति रमी है उसको सभी भरपूर जानते हैं। किन्तु जिस तथ्य को प्रकट करने का प्रयत्न नहीं किया जाता वह यह है कि सूरदास ने इस बाल-रूप को किस दृष्टि से लिया है। सूरदास का स्वय कहना है।

हमैं नन्दनन्दन मोल लिये।
जमके फन्द काटि मुकराए, अभय अजाद किये ॥
भाल तिलक, स्रवननि तुलसी दल, मेटे अंक लिये।
मूँड्यौ मूँड, कठ बनमाला, मुद्रा चक्रदिये ॥
सब कोउ कहत गुलाम स्याम कौ, सुनत सिरात हिये।
सूरदास कौ और बड़ौ सुख, जूठनि खाइ जिये ॥

—सभा सं०—१७१।

सूरदास ने भोज्य पदार्थों का वर्णन बड़े ही चाव से किया है और जहाँ तहाँ सविधि उनकी पूरी थाल भी लगा दी है। ऐसे पदों के अन्त में उनकी दृष्टि जूठन पर ही रहती है और सब का भाव प्रायः यही होता है—

छबि सूरदास बलिहारी। माँगत कछु जूठनि थारी।
हरि तनक तनक कछु खायौ। जूठनि सब भक्तनि पायौ॥

—सभा सं०–८०१।

इसका मूल-कारण है बाल गोपाल की वल्लभ-सम्प्रदाय की विस्तृत सेवा। सूरदास ने ज्यौनार की पूरी विधि बताकर घोषणा यह की है—

सूरदास देख्यो गिरधारी। बोलि दई हँसि जूठन थारी।
यह जेवनार सुनै जो गावै। सो निज भक्ति अभयपद पावै।

—सूरसागर, पृ० ५३६, २१।

सूर की दृष्टि में कृष्ण की लीला का माहात्म्य क्या है और किस हेतु से कृष्ण की अद्भुत-लीला होती है उसको ठीक ठीक जानने के लिये यह पद पर्याप्त है—

हरि की लीला देखि नारद चकित भये।
मन यह करत विचार गोमती तर गये॥
अलख निरंजन निर्विकार अच्युत अविनाशी।
सेवत जाहि महेश शेष सुर माया दासी॥
धर्म स्थापना हेतु पुनि धार्‌यो नर अवतार।
ताको पुत्र कलत्र सों नहिं संभवत बिचार॥
हरि के षोडश सहस रहे पतिवरता नारी।
सब सों हरि को हेत सबै हरि जू को प्यारी॥
जाके गृह दुइ नारि होइं ताहि कलह नित होइ।
हरि बिहार केहि बिधि करत नैनन देखौं जोइ॥
द्वारावति ऋषि पैठ भवन हरि जू के आयो।
आगे होइ हरि नारि सहित चरणन सिर नायो॥
सिंहासन बैठारि कै प्रभु धोये चरण बनाइ।
चरणोदक शिर धरि कह्यो कृपा करी ऋषिराइ॥
तब नारद हँसि कह्यो सुनो त्रिभुवनपति राई।

तुम देवन के देव देत हौ मोहि बड़ाई ॥
विधि महेश सेवत तुम्हें मैं बपुरा केहि माहिं ।
कहत तुम्हें ब्राह्मण देवता या मैं अचरज नाहिं ॥
और गेह ऋषि गये तहाँ देखे यदुराई ।
चमर ढोरावत नारि करत दासी सेवकाई ॥
ऋषि को रुखे देखि हरि बहुरि कियो सन्मान ।
उहँऊते नारद चले करत ऐसो अनुमान ॥
जा गृह में मैं जाउँ श्याम आगे ही आवत ।
ताते छाँड़ि सुभाउ जाउँ अब कैसे धावत ॥
जहाँ नारद श्रम करि गये तहाँ देखे घनश्याम ।
पालन हू क्रीड़ा करत कर जोरे खड़ीं वाम ॥
नारद जहाँ जहाँ जाइं तहाँ तहाँ हरि को देखैं ।
कहुँ कछु लीला करत कहूँ कछु लीला पेखैं ॥
यों ही सब गृह में गये भयो न मन विश्राम ।
तब ताको व्याकुल निरखि हँसि बोले घनश्याम ॥
नारद मन की भर्म तोहि इतनो भरमायो ।
मैं व्यापक सब जगत वेद चारों मुख गायो ॥
मैं कर्ता मैं भोक्ता मोहि विनु और न कोइ ।
जो मोको ऐसे लखै ताहि नहीं भ्रम होइ ॥
बूझो सब घर जाइ सबै जानत मोहि यो हीं ।
हरि की हम सों प्रीति अनत कहूँ जात न क्यों हीं ॥
मैं उदास सब सों रहौं इह मम सहज सुभाइ ।
ऐसो जानै मोहि जो मम माया न रचाइ ॥
तब नारद कर जोरि कह्यो तुम अज अनन्त हरि ।
तुम से तुम विन द्वितिय कोउ नाहिं उत्तम दुरि ॥
तुम माया तुम कृपा बिनु सकै नहीं तरि कोइ ।

अब मोको कीजै कृपा ज्यों न बहुरि भ्रम होइ ॥
ऋषि चरित्र मम देखि कछू अचरज मति मानो ।
मोतै द्वितीया और कोऊ मनमाहिं न आनो ॥
मैं ही कर्ता मैं ही भोक्ता नहिं या मैं सन्देहु ।
मेरे गुण गावत फिरौ लोगन को सुख देहु ॥
नारद करि परिणाम चले हरि के गुण गावत ।
बार बार उर हेत ध्याइ हृदय में ध्यावत ॥
इइ लीला करि अचरज की सूरदास कहि गाइ ।
ताको जो गावैं सुनै सो भवजल तरि जाइ ॥

—सूरसागर, पृ० ७४३, छं० ७१ ।

अस्तु, सूरदास के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि उन्होंने तुलसीदास की भाँति बार बार यह दिखाने की चेष्टा नहीं की है कि कृष्ण परब्रह्म हैं, कुछ सामान्य व्यक्ति नहीं, वह सर्वथा निर्मूल और अध्ययन से अति दूर है। सूरदास ने प्रकट और प्रच्छन्न उभय रूपों में सयय-समय पर इसका बोध कराया है कि कृष्ण सामान्य बालक नहीं, परब्रह्म हैं और भक्तों के सुख और दुष्टों के दलन के हेतु ही संसार में आये हैं। बचपन की बात है। पांड़े जी भोग लगाना चाहते हैं, परन्तु लगा नहीं पाते। यशोदा ताड़ती हैं तो कृष्ण इसका जो उत्तर देते हैं वह क्या है ? अच्छा तो कृष्ण के जन्म के उछाह में पाँड़े जी महाराज भोजन पर बैठे हैं, और होता यह है—

पांड़े नहिं भोग लगावन पावै ।
करि करि पाक जबै अर्पत है, तबहीं तब छ्वै आवै ।
इच्छा करि मैं बाम्हन न्यौत्यौ, ताको स्याम खिझावै ।
वह अपने ठाकुरहिं जिवावै, तू ऐसैं उठि धावै ।
जननी दोष देति कत मोकौ, बहु बिधान करि ध्यावै ।
नैन मूँदि, कर जोरि, नामलै बारहिं बार बुलावै ।

कहि, अन्तर क्यो होइ भक्त सौ, जो मेरैं मन भावै।
सूरदास बलि बलि बिलास पर, जन्म जन्म जस गावै।

—सभा सं० ८६७।

कृष्ण के जितने सम्बन्धी हैं सभी उनको इसी रूप में जानते हैं और बाल-लीला के साथ ही साथ यह अद्भुत लीला भी बराबर चलती रहती है इतना ही नहीं, सूरदास ने तो कहीं कहीं उसी प्रकार कृष्ण को परब्रह्म सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिस प्रकार कि आगे चलकर तुलसीदास ने किया है। यह बात 'सूर-सागर' में इतनी स्फुट है कि इसके सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना व्यर्थ है। जमलार्जुन के मोक्ष का प्रसंग है। सूरदास लिखते हैं—

ऐसे हरि जन के सुख कारी, परगट रूप चतुर्भुज धारी।

सूरदास ने इस चतुर्भुज रूप का भी बराबर ध्यान रक्खा है और अन्त में जब कृष्ण द्वारिका में जा बसते हैं तब इसी चतुर्भुज को लक्ष्य करके गोपी कहती हैं—

हौ तो आइ मिलत गोपालहिं।
सिन्धु घरनि यह जुगुत न तेरी दुख दीनो व्रज बालहि।
कहा करो पट नील पीत वर दुरते भये भुज चारि।
बहु सुख कहा जु तब मन होतो भेंटत श्याम मुरारि।
सतत सूर रहत पति सगम सब जानति रुचि जी की।
तू क्यों नहिं बरति या भेषहि जोपै मुक्ति अति नीकी।

—सूरसागर, पृ० ७५३-९६।

कहने का तात्पर्य यह कि सूर और तुलसी में मात्रा का भेद पड़ सकता है, कुछ ब्रह्मदृष्टि में नहीं। सूरदास के सगुण और निर्गुण के विषय में कुछ और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। हाँ, कृष्ण की कमरी के बारे में भी कुछ बता देना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि—

शिव विरंचि सनकादि आदि तिनहूँ नहिं जानी।
शेष सहस फन थक्यो निगम कीरति न बखानी।
तेरी सों सुनि ग्वालिनी इहै मेरे मन मांह।
भुवन चतुर्दश देखिए वा कामरि की छाँह।
शेष न पायो अन्त पुहुमि जाकी फनवारी।
पवन बुहारत द्वार सदा शंकर कुतवारी।
धर्मराज जाकी पवरि सनकदिक प्रतिहार।
मेघ छ्यानवै कोटि सब जल ढोवहि प्रतिवार।
कहत ब्रजनागरी।

—सूरसागर, पृ० ३२१-२८

इतने बड़े बड़े देवता नहीं जानते तो न जानें पर वस्तुतः इसी कमरी के बल पर कृष्ण करते सब कुछ हैं। देखिये—

यह कमरी कमरी कर जानत।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति ॥
या कमरी के एक रोम पर वारौ चीर नील पाटंबर।
सो कमरी तुम निंदति गोपी जो तीन लोक आडम्बर ॥
कमरी के बल असुर संहारे कमरिहिते सब भोग।
जाति पाँति कमरी सब मेरी सूर सबहि यह योग ॥

—सूरसागर, पृ० ३०६-९६।

निश्चय ही यह और कुछ नहीं, कृष्ण की योगमाया है जिसके प्रसार से सब कुछ होता है। इस प्रसंग के छोड़ने के पहले यह भी जता देना उचित प्रतीत होता है कि कृष्ण के हृदय की उस भावना को भी हम अपने हृदय में बसा लें जिससे कृष्ण करते तो सभी कुछ अपने आप ही हैं पर महत्त्व सभी को देते हैं। कभी उनमें अभिमान का लेश भी नहीं होता। उनसे जब कभी कोई पूछता है कि यह बड़ा कार्य कैसे हो गया तब सहज भाव में यही उत्तर देते हैं कि यह तो यों ही

हो गया। सभी सखाओं की इसमें सहायता मिली अथवा जैसे तैसे बन गया। इसमें कहीं तो दुराव है और कहीं भक्तों और साथियों को महत्त्व देना। सूरदास इसके द्वारा कृष्ण के सहज शील को व्यक्त करना चाहते हैं और इसमें सफल भी पूरे हुए हैं। यहाँ तक कि उनके विरह को भी सूरदास ने बहुत ही सरस रूप दिया है और उनके बिलखाने को भी दिखा दिया है। राधा कृष्ण पर मरती है तो कृष्ण का हृदय भी राधा के लिए तड़पता रहता है। यह बात दूसरी है कि पुरुष होने के कारण उतना विलाप नहीं करते।

सूरदास ने कृष्ण की ब्रज-लीला को दो रूपों में लिया है। एक तो सहज विलास के रूप में और दूसरा शत्रु-संहार के रूप में। फलतः सूर को प्रकृति को दोनों रूपों में लेना पड़ा है। ब्रज की प्रकृति मधुर, कोमल और उदात्त है। उधर जो असुर आते हैं प्रकृति के वेष मे आते हैं। स्वभावतः उनका रूप उग्र होता है। सूरदास ने इस उग्रता को भी सफलता के साथ टाँका है।

सूरदास ने प्रातःकाल का वर्णन बहुत किया है। सब से पहले तो कृष्ण को जगाते समय उनको यह बताना पड़ता है कि प्रातःकाल हो गया। और इसी प्रसग मे प्रातःकाल का पूरा परिचय दे दिया जाता है। दूसरा प्रसग रतजगे का है। इसमें भी रात भर विलास करने के उपरान्त प्रातःकाल की चिन्ता होती है। दोनो अवसरों पर प्रातःकाल का बहुत अच्छा चित्रण हुआ है। सीधी भाषा में स धे ढंग से प्रातःकाल का जो दृश्य उपस्थित हुआ है वह यह है——

जागिये ब्रज राज कुँअर कमल कुसुम फूले।
कुसुम-बृंद संकुचित भए, भृंग लता भूले।
तमचुर खगरोर सुनहु, बोलत बनराई।
राँभति गो खरिकनि मैं, बछरा हित धाई।
बिधु मलीन रवि प्रकास गावत नर नारी।
सूर स्याम प्रात उठौ, अम्बुज कर धारी।

—सभा सं० ८२०।

इसी को उत्प्रेक्षा की छटा में ज्ञान की दृष्टि से देखना हो तो—

जागिये गोपाल लाल, आनंद-निधि नन्द बाल,
जसुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे।
—सभा स० ८३० ।

को देखना चाहिये। कृष्ण की अवस्था ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है त्यों त्यो प्रातःकाल के वर्णन में गंभीरता भी आती जाती है और कार्य में निरत होने की बात भी सामने आती जाती है।

जागिये गोपाल लाल ग्वाल द्वार ठाढ़े।
रैनि अन्धकार गयो, चन्द्रमा मलीन भयो,
तारा गण देखियत नहिं तरणि किरन बाढ़े।
मुकुलित भये कमल जाल गुंज करत भृंगमाल
प्रफुलित वन पुहुप द्वार कुमुदिनी कुम्हलानी।
गंधर्व गुण गान करत स्नान दान नेम धरत
हरत सकल पाप वदत विप्र वेद बानी॥
बोलत नन्द बार बार मुख देखें तुव
कुमार गाइन भइ बड़ो बार बृंदावन जैबे।
जननी कहै उठो श्याम जानत जिय रजनि ताम
सूरदास प्रभु कृपालु तुमको कछु खैबे॥
—सूरसागर पृ० ५३४-२०।

यही वेला दूसरे समाज में यह रूप धारण कर लेती है—

शर्वरी सर्व बिहानी, तोहिं मनावत राधा रानी।
शुक्र उदय होन लग्यो जागे तमचुर ठरि आई जु मृगानी।
प्रफुल्लित कमल गुंजार करत अलि पहुफाटी कुमुदिनी कुँमिलानी।
सूर श्यामघन मुरछि परे हैं मान निवारो मो पै क्यों झहरानी।
—सूरसागर, पृ० ५१६-४८।

इसमें 'शुक्र' के उदय और 'मृगानी' के ढलने की जो बात कही गई है वह शरद ऋतु के सर्वथा अनुरूप है और सूरदास की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देती है। सूर ने इस प्रकार प्रकृति का जहाँ-तहाँ वर्णन किया है। वैसे तो षड्ऋतुओं का नाम प्रसंगवश कहीं न कहीं आ ही गया है परन्तु सूरदास ने खुलकर अंकन किया है वसन्त, वर्षा और शरद का ही। शरद का वर्णन रास-रस की दृष्टि से हुआ है और वसन्त का होली-धमार के प्रसंग में। एक में गुप्त रमने की विधि बनी है तो दूसरे मे खुल खेलने की। वर्षा की बात कुछ निराली है। वर्षा-ऋतु बार बार आती रहती है। वर्षा में जहाँ आनन्द की व्यञ्जना हुई है वह थोड़ी है। वियोग-वेदना और भय की व्यंजना ही इसमें अधिक हुई है। 'निसदिन बरसत नैन हमारे' में जिस वर्षा का उल्लेख हुआ है सो तो थी ही, कामदेव की चढ़ाई और इन्द्रका प्रकोप भी बादलों के द्वारा ही होता है—

माई री ये मेघ गाजैं।
मानहुँ काम कोपि चढ़ो कोलाहल कटक ल्यो,
बिरहा पिक चातक जै जै निसान बाजैं।
बरन बरन बादर बनाए तव जगत बिराजैं॥
दामिनी करवार करनि कपत सब गात उरनि,
जल धर समेत सेन इन्द्र धनुष साजैं॥
ऐसे अभिलाषा धीर विगत विरतते न लाजैं।
अबलनि अकेली करी अपनी कुल नीति विसरि,
अवधि सग सूर महराइ भाजैं।

—सूरसागर, ६२७-१६।

इसके आगे जो पद आये हैं उनपर विचार करने से आपही खुल जाता है कि सूरदास प्रकृति को किस खुली आँख से देखते हैं और किस प्रकार उसे अंकित करने में समर्थ भी होते हैं। और साथ ही इन्द्र के कोप को भी देख लेना चाहिये—

बादर घुमडि उमडि आये ब्रज पर
बरसत कारे धूमरे घटा अति ही जल।
अति चमचमाति ब्रजजन सब डर डारत
टेरत शिशु पिता मात ब्रज गलबल ॥
गर्जत ध्वनि प्रलयकाल गोकुल भयो अन्धकार।
चकृत भए ग्वाल बाल घहरत नभ करत चहल ॥
पूजा मेटि गोपाल इन्द्र करत इहै हाल।
सूर स्याम राखहु अब गिरिवर बल ॥

—सूरसागर, पृ० २७३, ४८।

प्रकृति का प्रकोप जल और आग के रूप में जितना प्रबल होता है उतना किसी अन्य रूप में नहीं। पवन का झकोरा भी इन्हीं से प्रेरित होकर चलता है। अतः उसके मूल में भी इन्हीं दोनों का हाथ समझना चाहिये। इनमें से जल का प्रकोप तो देख लिया गया अब दावानल की उग्रता कितनी भयंकरता के साथ फैलती है और दावानल किसी आतुरता से दौड़ता है, इसे भी देख लें। लीजिये—

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर बन, धरनि अकास चहुँ पास छायौ ॥
बरत बन बाँस, थरहरत कुस कांस, जरि उड़त है भास अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल फल चट चटकि, फटत लट लटकि द्रुम द्रुम नवायौ ॥
अति अगिनि झार, भंभार धुंधार करि, उचरि अंगार झझार छायौ।
बरत बन पात, भहरात झहरात अररात तरु महा, धरनि गिरायौ ॥
भए बेहाल सब ग्वाल ब्रजबाल तब, सरन गोपाल कहिकै पुकार्यौ।
तृना केसी सकट बकी बक अघासुर, बाम कर राखि गिरि ज्यौं उपार्यौ ॥
नैंकु धीरज करौ, जियहि कोउ जिनि डरौ कहा इहिं सरौ लोचन मुंदाए।
मुठी भरि लियौ, सब नाइ मुखहीं दियौ, सूर प्रभु पियौ ब्रजजन बचाए ॥

—सभा सं०-१२१४।

सूरदास ने भयानक रस की व्यंजना के लिये ऐसे ही उपद्रवों को चुना है। भयानक के अतिरिक्त और कहीं ऐसा वर्णन उन्हें नहीं भाता। सूरने व्यापक रूप से जिस रस को लिया है वह शृंगार ही है और प्रकृति उसी में योग देने के लिये सदा आई भी है। इस शृंगार को यदि वात्सल्य से सर्वथा भिन्न माना जायगा तो कहना होगा कि रति-व्यापार के बढ़ाने में ही सूर की प्रकृति लीन है। वात्सल्य भी रति न सही स्नेह का ही परिपाक है। अतः उसको भी रति के भीतर समझ लेना कोई भूल नहीं।

रसों की दृष्टि से कहना होगा कि सूर का प्रिय रस शृंगार ही है इसी को उन्होंने 'महारस' कहा भी है। शृंगार के साथ ही साथ जिस रस पर सूर की और भी विशेष दृष्टि रहती है वह है अद्भुत। अद्भुत और शृंगार का सम्बन्ध सूर की साधना और कृष्ण की लीला से अधिक है। अत: उनका सूरसागर में अधिक होना ही स्वाभाविक है। इनके उपरान्त जिस रस को अन्यों से अधिक महत्त्व मिला है वह है वीर-रस। इस वीरता का सच्चा परिपाक कृष्ण के ब्रज-जीवन मे उतना नहीं हुआ है जितना अन्यत्र। सूरदास वीर रस के चित्रण मे कितने सफल हो सकते थे इसको भीष्म के प्रसंग में देखना चाहिये। भीष्म की यह प्रतिज्ञा कितनी सजीव और समर्थ है—

आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तो लाजौ गगा जननी कौ सातनु सुत न कहाऊँ।
स्यदन खंडि महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पाडव दल सन्मुख ह्वै धाऊं, सरिता रुधिर बहाऊँ॥
इती न करौ सपथ तौ हरिकी, छत्रिय गतिहिं न पाऊँ॥
सूरदास रन भूमि विजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ।

—सभा सं०- २७०।

सूरदास ने शृंगार में रति के साथ ही साथ रति-रण की चर्चा भी बड़े ही चाव से की है—

दोऊ राजत रति-रण धीर।
महा सुभट प्रगटे भूतल वृषभानु सुता बलबीर ॥
भौहैं धनुष चढ़ाइ परस्पर सजे कवच तनुचीर।
गुण संधान निमेष घटत नहि छुटे कटाक्षनि तीर ॥
नख नेजा आकुत उरलागे नेक न मानत पीर।
मुरलि धरनि डारि आयुध लै गहे सुभुज भट भीर ॥
प्रेम समुद्र छाँडि मर्यादा उमँगि मिले तजि तीर।
करत विहार दुहूँ दिशते मानो सींचत सुधा शरीर ॥
अति बल जोवन घइ रुचिर रचि बदन मिली श्रम नीर।
सूरदास स्वामी अरु प्यारी विहरत कुंज कुटीर ॥

—सूरसागर, पृ० ३७४-६१।

सूर ने रौद्र रस को भी उन्हीं वृत्तों में लिया है जो कृष्ण के विनाश के हेतु हुये हैं। काली नाग से कृष्ण की जो ठन गई है उसमें उसके क्रोध की अच्छी व्यंजना हुई है—

झरकि कै छिरकि कै नारि दै गारि गिरधारि तब
पूँछ पर लात दै अहि जगायो।
उठ्यौ अकुलाई, डर पाइ खग-राइ कौं,
देखि बालक गरब अति बढ़ायौ।
पूँछ लीन्ही झटकि धरनि सौं गहि पटकि
फुँकर्‌यौ लटकि करि क्रोध फूले।
पूँछ राखी चाँपि, रिसनि काली काँपि
देखि सब साँपि अवसान भूले।
करत फन घात, विष जात उतरात अति
नीर जरि जात, नहिं गात परसै।

सूरके स्याम, प्रभु लोक अभिराम,
बिनु जान अहिराज विष ज्वाल बरसै।
—सभा सं० ११७० ।

करुण की सच्ची धारा भी इसी स्थल में वही है। कृष्ण दह में कूद पड़े हैं। पता नहीं क्या हो गया। समाचार सुनते हीः—

त्राहि त्राहि करि नन्द तुरत दौरे जमुना तट।
जसुमति सुनि यह बात, चली रोवति तोरति लट।
ब्रजबासी नरनारि सब, गिरत परत चले धाइ।
बूड़्यौ कान्ह सुनी सबनि, अति व्याकुल मुरझाइ।
जहँ तहँ परी पुकार, कान्ह बिनु भए उदासी।
कौन कहि सौं कहै, अतिहिं व्याकुल ब्रजबासी।
नन्द जसोदा अति बिकल, परत जमुन मैं धाइ।
और गोप उपनन्द मिलि, बाँह पकरि लै आइ।
धेनु फिरति बिललाति बच्छ थन कोऊ न लगावै।
नन्द जसोदा कहत कान्ह बिनु कौन चरावै।
यह सुनि ब्रजबासी सबै, परे धरनि अकुलाइ।
हाय हाय करि कहत सब, कान्ह रह्यौ कहँ जाइ।
नन्द पुकारत रोइ बुढ़ाई मैं मोहिं छाँड्यौ।
कछु दिन मोह लगाइ, जाइ जल भीतर माँड्यौ।
यह कह धरनी गिरत, ज्यौं तरु काटि गिर जाइ।
नन्द घरनि यह देखकै, कान्हहिं टेरि बुलाई।
निठुर भए सुत आजु, तातकी छोह न आवति।
यह कहि-कहि अकुलाइ, बहुरि जल भीतर धावति।
परति यह जमुना-सलिल, गहि आनति ब्रजनारि।

नैंकु रहौ सब मरहिंगी, को है जीवन हारि!
स्याम गए जल बूडि वृथा धिक जीवन जगकौ।
सिर फोरतिं, गिरि जातिं, अभूषन तोरति अंगकौ।
मुरछि परी, तनु सुधि गईं, प्रान रहे कहुँ जाइ।
हलधर आए धाइकैं, जननि गईं मुरझाई।

—सभा सं०-१२०७।

शान्त और हास्य तो विनय और विनोद में हैं ही। इसके विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। परिक्षित के हृदय में जो निर्वेद होता है वह भी शान्त रस का रूप धारण कर लेता है। बाल-विनोद में हास्य तो है ही जहाँ तहाँ व्यंग्य के रूप में अन्य प्रकरणों में भी आ जाता है। रहा वीभत्स, सो उसमें सूरकी रुचि नहीं। उसका सूर मे अभाव ही समझिये। वीभत्स का वर्णन प्रायः कवियों ने रण-क्षेत्र में किया है और उसके द्वारा वैरी की दुर्गति को बताया है। पर सूरदास की दृष्टि शत्रु की दुर्गति पर कभी जाती ही नहीं। शत्रु की बोटी बोटी कर देने की भावना सूरदास की गोपिका में उठती है, सो भी चन्द्रमा जैसे शत्रु को, उसकी धवल चाँदनी से खीझकर ही :—

कर धनु लिये चन्द्रहि मारि
तब तो वै कछुवै न सिरैहै अति ज्वर जैहै तनु जारि।
सूहर वाहि जाइ मन्दिरचढ़ि शशि सन्मुख दर्पण विस्तारि।
ऐसि भाँति बुलाई मुकुर महि अति बल खंड खंड करि डारि॥
सोई अवधि आई है चलतैं ही जौदई मुरारि।
सूरसों विनय करति हिम करसों अब तू उद्योग छांड दिन चारि।

—सूरसागर, पृ० ६३३-५७।

किन्तु सचमुच किसी ने अपने शत्रु को खंड-खंड में विभाजित कर गीदड़ों के लिये छोड़ दिया हो, ऐसा कहीं नहीं मिलता।

काव्य की दृष्टि से सूरदास के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से और अधिक कुछ

नहीं कहना है। केवल इतना और जता देना है कि सूरदास के जिन पदों को रहस्यवाद का रूप समझा जाता है उनका रहस्य कुछ और ही है। दुःख की बात तो यह है कि अभी तक सूरसागर का सम्पादन ऐसा न हुआ जिससे सूरकी स्थिति स्पष्ट हो और उनके काव्य को आदर्श रूप मिले। सूरसागर की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें इस प्रकरण को बहुत ध्यान से देखना चाहिए और इसकी एक तालिका प्रस्तुत होनी चाहिये कि सूरसागर में जो मन-प्रबोध और चित्त-बुद्धि-सम्वाद मिलता है उसकी स्थिति किसमें क्या है। प्रकरण की दृष्टि से यह प्रसंग राजा परीक्षित के निर्वेद मे आता है। 'मन प्रबोध' का एक पद है—

करि मन नन्द नन्दन ध्यान
सेव चरन सरोज सीतल, तजि विषय रस पान।
जानु जंघ त्रिभग सुन्दर, कलित कचन दड।
काछनी कटि पीत पट-दुति, कमल केसर खंड।
मनौ मधुर मराल छौना, किंकिनी कल राव।
नाभि हृद, रोमावली-अलि, चले सहज सुभाव।
कंठ मुक्तामाल, मलयज, उर बनी बन माल।
सुरसरी कैं तीर मानौ लता स्याम तमाल।
बाहु-पानि सरोज पल्लव, धरे मृदु मुख बेनु।
अति बिराजत बदन बिधुवर सुरभि रंजित रेनु।
अधर, दसन, कपोल, नासा, परम सुन्दर नैन।
चलित कुंडल गड मडल मनहुँ नर्तन मैंन।
कुटिल भ्रूपर तिलक रेखा, सीस सिखिनि सिखंड।
मनु मदन धनुसर सँधाने, देखि घन को दंड।
सूर श्री गोपाल की छबि, दृष्टि भरि भरि लेहु।
प्रानपति की निरखि सोभा, पलक परन न देहु।

—सभा० सं०–३०७।

यही सूरदास का इष्ट है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु विचारणीय बात तो यह है—

चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहं भ्रम निसा होति नहिं कबहूँ सोइ सायर सुख जोग।
जहाँ सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुबास।
जिहिं सर सुभग मुक्ति मुक्ता फल, सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छांड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै?
लछमी-सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषयरस छीलर, वा समुद्र की आस।

—सभा सं०-३३७।

निश्चय ही यह 'चरन-सरोवर' बैकुंठ-धाम है, जहाँ क्षीरशायी विष्णु भगवान लक्ष्मी के साथ विहार करते हैं। सूर इस धाम को अपना धाम नहीं समझते, यह तो 'सूरसागर' से प्रकट ही है। सूरदास की दृष्टि में तो लक्ष्मी सहित विष्णु भी रास-रस को तरसते हैं फिर सूर का इष्टधाम इसे कैसे मान सकते हैं? तो फिर इसका रहस्य है क्या। सूरदास का इसी सवाद का दूसरा पद है—

चल सखि तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि बिना बिकसाहिं।
हंस उज्वल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं।
मुक्ता मुक्ति अनगिने फल, तहाँ चुनि चुनि खाहिं।
अतिहि मगन महामधुर रस, रसन मध्य समाहिं।
पदुम बास सुगन्ध सीतल, वेल पाप नसाहिं।
सदा प्रफुलित रहैं, जल विनु निमिष नहिं कुम्हिलाहिं।
सघन गुंजत बैठि उन पर भौंरहुँ बिरमाहिं।

देखि नीर जु छिलछिलौ जग, समुझि कछु मन माहिं ।
सूर क्यौं नहिं चलै उड़ि तहँ बहुरि उड़िबौ नाहिं ।

समा० सं०—३३८ ।

इसमें महामधुर-रस तो है किन्तु कहीं सनक, सिव आदि का उल्लेख नहीं है । तो क्या यह निर्गुण पन्थ का सरोवर है । स्मरण रहे, यह निरा सरोवर है चरण सरोवर नहीं । उत्तर देने के पहले तीसरे पद पर भी विचार कर लें । कहते हैं—

भृंगी री, भजि श्याम कमल पद जहाँ न निसि कौ त्रास ।
जहँ बिधु-भानु समान, एक रस, सो बारिज सुख रास ।
जहँ किंजल्क भक्ति नव लच्छन, काम ज्ञान रस एक ।
निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनिमन भृंग अनेक ।
सिव-बिरंचि खजन मनरजन, छिन छिन करत प्रवेस ।
अखिल कोष तहँ भरयो सुकृत जल प्रगटित स्याम दिनेस ।
सुनि मधुकरी, भ्रम तजि कुमुदनि कौ, राजिव बर की आस ।
सूरज प्रेम सिन्धु मैं प्रफुलित, तह चलि करै निवास ।

—समा सं०—३३९ ।

इसमें 'स्याम-कमल-पद' है, इसमें 'भक्ति नव लच्छन' है, इसमें 'काम ज्ञान रस एक' है, इसमें निगम, सनक, शिव विरंचि, आदि हैं, इसमें सुकृत है और हैं इसमें 'श्याम-दिनेस' । तो क्या यही सूर का इष्ट है ? हाँ, यही सूर का वह धाम है जहाँ किसी का त्रास नहीं, पर वास सब का है और जहाँ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं, सभी में एक रसता है । अस्तु, हमारा कहना है कि इस संवाद में सूरदास ने विष्णु' 'अलख पुरुष' और 'भगवान कृष्ण' की उपासना को अपने अपने क्षेत्र में व्यक्त किया है और अन्त में चित्त और बुद्धि दोनों का मेल श्याम-दिनेश' में करा दिया है ।

सूरदास का यह अध्ययन तब तक अधूरा ही समझा जायगा जब तक इसमें

अलंकार पिंगल और देश-काल की भी थोड़ी सी चाशनी न आ जाय। अलंकार के बारे में तो हमें यही कहना है कि सूर का सब से प्रिय अलंकार है रूपक, और उसके उपरान्त स्थान है उत्प्रेक्षा का। रूपक और उत्प्रेक्षा के द्वारा सूरदास ने अपनी कविता को जो कला का रूप दिया है वह रम्य, भव्य और सुन्दर है। इन अलंकारों का लगाव उनकी साधना से भी है। रूपक में रूप तो है ही और इस रूप को नाना अवसरों पर नाना रूपों में सूर ने देखा है। रूप को सूर ने बहुत ही महत्त्व दिया है। रूप को छोड़ कर मधुर-रस सध भी नहीं सकता। कृष्ण और राधा का जो रूप रूपक के रूप में हमारे सामने आया है वह अद्वितीय है। किस अवसर पर सूर किसकी क्या छवि उतारते हैं और उसका कैसा शृंगार करते हैं इसके अध्ययन की आवश्यकता है। उनका यह रूपक यहीं तक सीमित नहीं रह जाता है। वह प्रकृति में भी चारों ओर फैल जाता है और शासन में भी। हम यहाँ शासन के रूपक के सम्बन्ध में ही कुछ कहना चाहते हैं। सूर ने 'ठाकुर' 'साहिब', 'पतितेश', 'खिलवार', 'नायक', 'गाय' आदि का जो रूपक बाँधा है वह देश-काल के अनुरूप और उनकी कला के अनुकूल है। ऊपर 'कामिनी' के जिस कमान कसने का रूप आया है वह भी किसी 'तुरकिनी' से कम नहीं है। सूरदास ने अपने समय को कितने निकट से देखा है इसके लिये एक उदाहरण लीजिये। उस काल की व्यवस्था यह थी कि जब कोई शत्रु किसी देश पर आक्रमण करता था तब वहाँ के उच्च मंच पर जो पाहरू स्थित होता था वह इसकी दुंदुभी पीट कर सबको सावधान कर देता था। सूरदास इसी को लेते हैं—

> शिखनि शिखर चढ़ि टेर सुनायो।
> बिरहिन सावधान ह्वै रहियो सजि पावस दल आयो॥
> नव बादल बानैत पवन ताजी चढ़ि चुटकि दिखायो।
> चमकत बीजु शैलकर मंडित गरजि निसान बजायो॥
> दादुर मोर चातक पिकके गण सब मिलि मारू गायो।
> मदन सुभट करवाण पंच लै ब्रजतन सन्मुख धायो॥
> जानि बिदेश नन्द को नन्दन अबलन त्रास दिखायो।

सूर श्याम पहिले गुण सुमिरिहि प्राण जात विरमायो ॥

—सूरसागर पृ० ६३०-४० ।

इस प्रसंग को अधिक बढ़ाने का यह अवसर नहीं है। सच तो यह है कि सूरदास ने अपने समय की शासन-प्रणाली का ऐसा रूप उपस्थित कर दिया है कि हम यदि उसको जगह जगह से चुन कर एकत्र कर लें तो वह इतिहास की बहुत सी उलझनों को दूर करने में समर्थ होगा। प्रसंग दान-लीला का है। कृष्ण दान चाहते हैं। गोपियाँ कहती हैं, दही-दूध पर चुंगी नहीं लगती। चुंगी तो मर मसालों पर लगती है इसी प्रसंग में सूरदास ने उन सामग्रियों का उल्लेख भी कर दिया है जिनके इतिहास से अपरिचित होने के कारण एक महानुभाव ने उन्हें योरप के व्यापारियों का प्रसाद समझना चाहा है किन्तु यह जान रखना चाहिये कि यह व्यापार यहाँ का बहुत पुराना है और यूरप के लोग भी इस व्यापार के लिये ही यहाँ आ गये थे। अच्छा तो वह पद है—

कहौ कान्ह कह गथ लै हमसों।
जो कारण युवती सब अटकीं सो बूझत हैं तुमसों ॥
लोंग, नारियर दाख सुपारी कहा लादे हम आवैं।
हींग मिरच पीपरि अजवाइनि ये सब बनिज कहावैं ॥
कूट काइफर सोंठि चिरैता कटजीरा कहुँ देखत।
आलम जीठ लाख सेंदुर कहुँ ऐसे ही बुधि अवरेखत ॥
बाइबिरंग बहेरा हरैं कहुँ बेल गोंद व्यापारी।
सूर श्याम लरकाईं भूली जोबन भए मुरारी ॥

—सूरसागर, पृ० ३०८-८।

इसी क्रम का छन्द २९ भी इस जानकारी में सहायक होगा।

पिंगल के विषय मे यह तो निर्विवाद है कि सूरदास ने जो कुछ लिखा है राग में लिखा है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि 'सूरसागर' में छन्दों की विविधता नहीं है। यदि पिंगल की दृष्टि से सभी छन्दों का लेखा लिया जाय तो

वह किसी भी इस वर्ग के प्रसिद्ध कवि के छन्दों से कम नहीं तुलेगा। सूरसागर में पद ही नहीं, राग के भीतर कवित्त, छप्पय, रोला, आदि भी हैं और बहुत सी लम्बी कथायें तो प्राय: चौपाई में ही लिखी गई हैं। कहने का तात्पर्य यह कि इस दृष्टि से भी सूर का अध्ययन होना चाहिये और देखना यह चाहिये कि छन्द, राग पिंगल आदि की स्थिति क्या है और किस विषय की रचना किस छन्द और किस राग में अधिक हुई है और क्यों।

सूरदास में राजनीतिक दाँव-पेंच बहुत कम हैं। अंगद और रावण के विवाद में यह गोचर होता है कि रावण किस प्रकार अमर्ष और प्रलोभन के द्वारा अंगद को तोड़ना चाहता है और कस के प्रकरण में भी प्रकट होता है कि किस प्रकार वह आव-भगत और 'सिरोपाव' के द्वारा व्रजवासियों को ठगना चाहता है। अन्यथा 'सूरसागर' मे इसका अभास ही है। कहीं ठौर-ठिकाने का निरूपण नहीं।

'सूरसागर' में उस समय का समस्त व्रज-जीवन समेट कर रख दिया गया है। व्रज में किन किन अवसरों, किन किन पर्वों, और किन किन त्योहारो पर क्या होता था, इसका भी विवरण पाया जाता है। उस समय का शृंगार क्या था, प्रसाधन क्या था और लोग कैसी वेषभूषा धारण करते थे यह भी 'सूरसागर' में पर्याप्त मात्रा में दिखाई दे जाता है। उस समय के खान-पान और भोज्य पदार्थों का भी पूरा विवरण 'सूरसागर' में मिलता है—फल का भी, मिष्ठान्न का भी, अन्न का भी और अचार का भी। कहाँ तक कहें, जानकारी की बहुत सी बातें सूर में भरी पड़ी हैं जो काव्य में उपयोगी भले ही न हों पर जीवन में जिनका उपयोग सदा बना रहेगा। सूरदास की प्रवृत्ति इस क्षेत्र में जायसी के साथ है। जायसी ने भी इसका विधान अपने यहाँ किया है और सूर ने भी। सूर में जायसी की अपेक्षा अधिक वस्तुओं का विवरण है किन्तु वह व्रज जीवन तक ही बहुत कुछ सीमित है और सो भी गोप गोपी जीवन तक। उसमें राजा की विभूति है पर अपेक्षा कृत थोड़ी मात्रा में।

सूरदास भाषा में रचना करते थे। इसका उन्हें खेद भी था। उस समय भाषा में रचना करना किसी विद्वान को भाता नहीं था। सूरदास पण्डित थे इसे

कोई नहीं मानता। कोक-कलाविद् थे यह उनकी रचना से विदित है। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि सूरदास संस्कृत से सर्वथा मुक्त हैं। पुराणों से सूर ने कथा ली है और लिया है उनका भाव तथा विचार भी। इसको उन्होंने माना भी है और लिखा भी है परन्तु प्रतीत यह होता है कि उन्होंने यह सब कुछ सुन-सुना कर किया है, पढ़-पढाकर नहीं। यदि सूर को संस्कृत का बोध होता तो संस्कृत में उनकी कोई रचना नहीं, तो छन्द तो अवश्य होता। संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों का जहाँ तहाँ भाव सूरसागर में मिलता है। प्रमाण के लिये सूरदास का यह पद ले लीजिये और देखिये कि यह मेघदूत का ऋणी है वा नहीं। सूर का पद है—

अद्भुत कौतुक देखि सखी री, श्री वृन्दावन में होइ परी री।
उत घन उदित सहित सौदामिनि इतहि मुदित राधिका हरी री।
उत बगपांति शोभित इत सुदर घाम विलास सुदेश खरी री।
वहाँ घन गर्ज इहाँ ध्वनि मुरली जलधरइत उत अमृत भरी री॥
उतहि इन्द्रधनुष इत बनमाला अति विचित्र हरि कण्ठ धरी री।
सूर साथ प्रभु कुँवरि राधिका गगन की शोभा दूरि करी री॥

—सूरसागर, पृ० ५३०–९७।

उधर मेघदूत का श्लोक है—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः,
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः,
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।

—उत्तरमेघ–१।

हाँ, तो सूरदास ने भाषा में रचना की है और की है ब्रजभाषा में। किन्तु उनकी ब्रजभाषा खरी या ठेठ ब्रज-भाषा नहीं है। वह तो साहित्य की ब्रज-भाषा है। सूरदास के पहले ब्रजभाषा में रचना ही नहीं होती थी, यह कहना ठीक नहीं। संगीत में ब्रजभाषा सूर के बहुत पहले से चली आ रही थी और उसमें गीत भी बहुत से गाये जा चुके थे। सूर ने शब्दों पर ध्यान दिया और ध्यान दिया उनकी शक्ति तथा व्यंजना पर। उनको कभी यह चिन्ता न हुई कि यह शब्द ग्रामीण है

या शिष्ट, अरबी है या फारसी। प्रसंग के अनुकूल जिस भाषा में व्यंजना हो सकती थी, उसी में हुई। सूर की भाषा, भाव और विचार के साथ चलती है। तत्सम, तद्भव और ठेठ शब्दों के साथ ही साथ अरबी फारसी के चलित शब्दों को भी ग्रहण करती है। दुरूह वहीं हो जाती है जहाँ वह उस समय का साहिबी ठाठ दिखाती है। ऐसे ठाठ में सांकेतिक अरबी शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है इसके अतिरिक्त सूर की भाषा सरल, सुबोध और सशक्त है। पात्र और प्रसंग के अनुसार वह चटपटी, गभीर ऐंठती और मटकती हुई चलती है। उसमें जह 'छिनाल' और 'मेहरा' जैसे मुँहफट शब्दों को स्थान मिला है वहीं शिष्ट औ संस्कृत शब्दों को भी। सूर समास के प्रेमी नहीं, व्यास के अवतार हैं। फबती कसने और चुटकी लेने में बड़े निपुण और विनोद में बहुत ही स्मित और खुले हुए हैं। सूझ, समझ से काम लेते और भाषा को सरस बना देते हैं। शब्दों के कुछ ऐसे रूप भी सामने आ जाते हैं जो अत्यन्त देशी होने के कारण कठिन पड़ जाते हैं और कुछ अति विकृत हो जाने के कारण भी। कहीं कहीं अवसर को देखकर ही सूर 'ट' को बहुत अपनाते हैं। किसी किसी शब्द में लक्षण का प्रगल्भ चमत्कार भी पाया जाता है, पर सूर वस्तुतः व्यंजना के ही कवि हैं। सूर मे व्यंजना है और विवरण है। दोनों का पथ अलग अलग है। हाव-भाव और अनुभाव की अपेक्षा सूर भाव के ही कवि अधिक हैं और रस ही उनको सदा इष्ट है, कोरा चमत्कार कभी नहीं।

सूर के सम्बन्ध में संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूर की कविता, कविता नहीं, हृदय की झंकार है। हृदय का जैसा मधुर दर्शन सूर में होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। रति के क्षेत्र में सूर अकेले हैं और अन्यों से इतने अलग हैं कि हिन्दी का कोई दूसरा कवि उनके निकट तक पहुँच ही नहीं सकता। महात्मा तुलसीदास रति के कवि नहीं। रति के क्षेत्र में तो वह बहुत फूँक कर पाँव रखते हैं और इस काली कोठरी से अपने आप को निर्लिप्त निकाल लेना भी चाहते हैं। निकल भी गये हैं। किन्तु संभोग के विकट क्षेत्र को छोड़कर और यदि कहीं लिया भी है तो अत्यन्त संयम के साथ और अपनी मर्यादा के भीतर ही। कारण, न तो उनको

बाल राम से ही अधिक काम लेना है और न रसिक राम से ही। उनको तो विवाहित राम को लेना है और लेना है धनुर्धर राम को। तुलसी ने अपने ढंग में सफलता प्राप्त की है और उन्होंने भी शृंगार को अपने ढंग पर दिखाया है पर उनका वह ढंग उन्हीं का ढंग है और उन्हीं जैसे सयमी लोगों के लिए है। पर सूर में यह बात नहीं है। सूर का रस सबका रस है। उनका शृंगार सबका शृंगार है। सूर की यही सबसे बड़ी सफलता है। मधुर-रस की ऐसी व्यापक और मार्मिक व्यंजना साहित्य के क्षेत्र में कहीं भी नहीं हुई है। इस देश के लीला और गुण के कवियों में भी सूरदास की तुलना किसी अन्य से नहीं हो सकती। सूर में लीला है और सूर में है गुण। पर सूर में चरित नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि सूर ने किसी चरित को गिराया है अथवा किसी पात्र का कोई चरित ही उनकी रचना में नहीं है। नहीं, ऐसा नहीं है। उनके सभी प्रमुख पात्रों मे चरित है और सबका शील भी अलग है। उनका श्री दामा, सुदामा नहीं, और सुदामा, सुबल नहीं। उनकी चन्द्रावली, ललिता नहीं, और ललिता, सुषमा नहीं। उनकी यशोदा देवकी नहीं और देवकी रुक्मिणी नहीं। उनके नन्द, वसुदेव नहीं। तात्पर्य यह कि उनके सभी पात्रों का शील और स्वभाव अलग अलग है और अलग है उनका चरित भी। सबका स्वरूप उनके सामने है और सबके स्वभाव का निखार है उनके 'सागर' में। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि सूरदास का ध्यान सचमुच चरित-चित्रण पर रहा है, लीला पर नहीं। सक्षेप में कहा जा सकता है कि सूर 'लीला' के कवि हैं और कवि हैं हृदय के ही, 'मानस' और 'चरित' के कवि तो तुलसीदास ही हैं। सूर कहते हैं तो तुलसी कहाते हैं, सूर गाते हैं तो तुलसी सुनाते हैं, सूर बताते हैं तो तुलसी जताते हैं। साराश यह कि सूर और तुलसी हमारे जीवन के दो पक्ष हैं। इनमें से किसी को घट-बढ़ करके देखने की अपेक्षा दोनों को अलग अलग देखना ही साधु है। दोनों अपने अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं और दोनों ही अपने अपने क्षेत्र में सफल भी पूरे हैं। सूर सूर हैं पर तेज तुलसी में है। तुलसी शशि हैं पर दाह सूर में है। बस, यही इनका मूल भेद है।

७—रसखान

मियाँ रसखान का रस इतना चोखा उतरा है कि सभी रसिक उसको छकेकर पीते पर कभी अघाते नहीं हैं। ऐसे रसखान का जीवन भी कैसा रसमय रहा होगा इसका अनुमान तो किया जा सकता है पर इसका विवरण प्रस्तुत करना अभी असम्भव है। कारण यह कि जो कुछ अभी उनके सम्बन्ध में जाना गया है वह इतना अल्प है कि उसके आधार पर कोई सच्ची जीवनी खड़ी नहीं हो सकती। '२५२ वैष्णवन की वार्ता' में उनके विषय में जो कुछ कहा गया है वह सच्चा नहीं कहा जा सकता। इसका प्रधान कारण यह है कि स्वयं रसखान जी ने 'प्रेम-वाटिका' में अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे उसका मेल नहीं खाता। 'वैष्णवन की वार्ता, से प्रकट होता है, कि रसखान पठान थे, किसी साहूकार के बेटे पर आसक्त थे और थे श्रीनाथ जी के अनन्य भक्त। इसमें से कोई भी बात रसखान की किसी भी रचना से पुष्ट नहीं होती। स्वयं रसखान का कहना है—

'देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छोरि रसखान॥ ४८॥
प्रेम निकेतन श्रीवनहिं, आइ गोवर्धन-धाम।
लह्यो सरन चित चाहि कै, जुगल सरूप ललाम॥ ४९॥
तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी-मान।
प्रेमदेव की छबिहिं लखि, भए मियाँ रसखान॥ ५०॥
बिधु-सागर-रस-इन्दु सुभ, बरस सरस रसखानि।
'प्रेम-वाटिका' रचि रुचिर, चिर हिय हरख बखानि॥ ५१॥
अरपी श्री हरि चरन जुग, पदुम पराग निहार।
बिच रहि यामें रसिक वर मधुकर-निकर अपार'॥ ५२॥

—प्रेम-वाटिका।

इस कथन में कहीं से यह ध्वनित नहीं होता कि रसखान पठान थे। बादशाह वंश की ठसक पर ध्यान दें तो प्रकट होता है कि रसखान बादशाह वंश के थे। बादशाह वंश का सीधा अर्थ पठान वंश न होकर मुग़ल किंवा तुर्क वंश ही होगा। कारण यह कि मुगल बादशाह ही बादशाह की उपाधि से इतिहास में ख्यात रहे हैं। पठान तो सुलतान ही कहे जाते थे। पठानों में शेरशाह सूर ने भी अपने को 'शाह' ही कहा और उसके वंश में यही उपाधि चलती भीरही। ऐसा मानने का एक दूसरा कारण भी है। 'बिधु-सागर-रस-इन्दु' से सिद्ध ही है कि इस 'प्रेम-वाटिका' की रचना संवत् १६७१ में हुई जो निश्चय ही जहाँगीर का शासन-काल है। इस समय यदि किसी बादशाह वंश की ठसक हो सकती है तो बादशाही मुग़ल वंश की ही। रही 'देखि गदर हित साहिबी' की उलझन, तो इसके बारे में भी कहा जा सकता है कि यह साहिबी की लड़ाई निज वश की ही लड़ाई थी, जो या तो अकबर और जहाँगीर की लड़ाई रही होगी या जहाँगीर और खुसरो की। इनमें से पहली संवत् १६५८-५९ में हुई और दूसरी संवत् १६६३-६४ में। उचित तो यह प्रतीत होता है कि इसमें जहाँगीर और खुसरो का ही संघर्ष देखा जाय। क्योंकि वही इसके अधिक निकट ठहरता है और होता भी कुछ पहले से उग्र है।

हाँ, 'दिल्ली नगर मसान' की उलझन कुछ सहसा सुलझती हुई नहीं दिखाई देती है। हमारी समझ में मसान का सम्बन्ध इस गदर से नहीं है, प्रत्युत स्वयं दिल्ली नगर से है। यह आवश्यक नहीं कि गद्दार दिल्ली नगर में ही गदर मचा उसको मसान बना दे तभी रसखान दिल्ली नगर को 'मसान' कहें। सच तो यह है कि दिल्ली नगर जैसा राजवंशों का 'मसान' कोई दूसरा नगर नहीं। कौरवों से लेकर पठानों तक न जाने कितने राज-वंश दिल्ली नगर में नष्ट हो चुके थे। अतः रसखान का दिल्ली नगर को मसान कहना ठीक ही था। सच पूछिये तो रसखान को बादशाह वंश से ही नहीं दिल्ली नगर से भी घृणा हो गई थी। और यह इसी घृणा का परिणाम है कि उनको दिल्ली छोड़कर गोवर्धन धाम की यात्रा

करनी पड़ी और 'जुगल सरूप' की शोभा में अपने आप को रमा देना पड़ा। 'दिल्ली नगर मसान' में किसी 'मरी' का संकेत हो तो कोई अचरज नहीं।

रसखान ने 'प्रेम-निकेतन श्रीवन' का नाम लिया और नाम लिया गोवर्धन धाम का भी। साथ ही शरण और युगल-स्वरूप का भी निर्देश किया। किन्तु कहीं भी इसका संकेत तक नहीं किया कि उन्होंने श्रीनाथजी को अपना इष्टदेव बनाया अथवा गोस्वामी श्री विट्ठलदास जी की शरण ली। भूलना न होगा कि श्रीनाथ जी के जिस बालरूप को वल्लभ सम्प्रदाय में इतनी प्रतिष्ठा है, रसखान की रचना में उसका सर्वथा अभाव है। अस्तु, कोई कारण नहीं कि हम केवल वार्ता में लिखित होने के कारण रसखान को श्री वल्लभ-सम्प्रदाय का शिष्य समझें। रसखान यदि इस कुल के भक्त होते तो इसका उल्लेख भी अवश्य करते। जब ऐसा कहीं कुछ भी नहीं है तब वार्ता को ही अक्षरशः प्रमाण क्यों मानें।

अब रही रसखान की आसक्ति। सो प्रकट ही है कि रसखान 'मानिनी का नाम' लेते हैं किसी मानी का मान नहीं। इतना ही नहीं, रसखान ने जिस बादशाही ठसक का ऊपर उल्लेख किया है वह तो कभी किसी बनिये के बेटे की चाकरी में व्यक्त नहीं होती, नहीं, 'वार्ता' ने यहाँ भी कपोल को ही पुराण मान लिया है। रसखान ने 'तोरि मानिनी ते हियो' में अपनी स्थिति को आप ही स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने अपनी मानिनी नायिका से अपना हृदय तोड़ लिया और उस मोहिनी के मोहने के अभिमान को फोड़ भी दिया। उन्होंने उसे प्रत्यक्ष बता दिया कि जिस छवि पर तुम इतरा रही हो वह छवि वस्तुतः तुम्हारी नहीं है। वह सचमुच जिसकी छवि है हम उसकी छवि-छटा को देख चुके हैं और अब तो उसके प्रसाद से हम स्वयं रसखान हो गये हैं, रस की खानि और रस के खान भी। बस हम उसी प्रेम-देव के पुजारी हैं जिसकी छवि के छींटे पर तुम इतनी इतरा रही हो।

रसखान को रसखान शब्द इतना प्रिय था कि उन्होंने इसकी व्याख्या स्वयं ही कर दी है—

'बैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरै अरु पाँइ वही जु वही अनुजानी॥
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यों रसखान वही रसखानि जु है रसखान सो है रसखानी॥'

रसखान ने अन्तिम चरण में स्पष्ट कर दिया कि सचमुच वही रस की खानि है जो वस्तुतः रस की खानि है और रसखान भी तभी रसखान है जब वह भी वही रसखानि हो जाय जो सचमुच रसखानि है। रसखान ने मनमानी करनेवाली मानिनी से मन मोड़कर जिस रसखानि में उसको लगाया था उसी रसखानि के हो रहे, इसमें संदेह नहीं। रसखान ने सच कहा है कि मन के एक होने में ही सच्चा प्रेम नहीं है। नहीं, सच्चा प्रेम तो तब समझना चाहिये जब तन भी एक हो जाय—

दो मन इक होते सुन्यो, पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबै द्वै तनहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि॥ ३४॥

जैसे—

अकथ कहानी प्रेम की, जानत लैली खूब।
दो तनहूँ जहँ एक भे, मन मिलाय महबूब॥ ३३॥

लैली और उसके महबूब की बात तो तब रही जब मियाँ रसखान कोरे मियाँ रहे। अब तो उनकी स्थिति यह है—

जदपि जसोदा नन्द अरु, ग्वाल बाल सब धन्य।
पै जा जग में प्रेम को, गोपी भईं अनन्य॥३८॥
वा रस की कछु माधुरी, ऊधो लही सराहि।
पावै बहुरि मिठास अस, अब दूजो को आहि॥३९॥
श्रवन, कीरतन दरसनहिं जो उपजत सोइ प्रेम।

सुद्धासुद्ध विभेद तें, द्वै विध ताके नेम ॥४०॥
स्वारथ मूल असुद्ध त्यों, सुद्ध स्वभाव ऽनुकूल।
नारदादि प्रस्तार करि, कियो जाहि को तूल ॥४१॥

सारांश यह कि रसखान नारदी भक्त थे श्री वल्लभी नहीं। कुछ भी हो रसखान की सच्ची कामना है—

मानुस हौं तो वही 'रसखान' फिरौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो पुर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन॥१॥

—रसखान, पदावली, १।

कहा जाता है कि रसखान श्रीमद्भागवत का फारसी में अनुवाद पढ़ रहे थे और उसी में उनको कृष्ण के प्रति गोपियों का जो भाव मिला वही उनको अपना इष्ट दिखाई दिया। यह कथा सत्य दिखाई देती है। 'प्रेम वाटिका' में रसखान ने गोपियों का नाम जिस आदर के साथ लिया है सो तो है ही। उनका यह भी अनूठा उल्लास है—

'या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहूँ सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं।
'रसखान' कबौं इन आँखिन तें ब्रज के बन, बाग, तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं' ॥३॥

जिससे ध्वनित होता है कि रसखान सचमुच 'कलधौत के धाम' को छोड़ कर 'करील की कुंजों' में दौड़ पड़े थे। प्रसंगवश इतना और जान लेना चाहिये कि श्रीमद्भागवत का सर्वप्रथम फारसी में अनुवाद अकबर के ही समय में हुआ था और किया था सम्भवतः फैजी ने सन् १५९५ ई० के पूर्व ही, क्योंकि यही उसका

निधन सन है। इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि रसखान ने 'प्रेम-वाटिका' में अपने विषय में जो कुछ कहा है उससे यही सिद्ध होता है कि वह मुगल- वंश के ही थे। और मुगल दरबार की ब्रज-भाषा-प्रियता से भली भाँति प्रभावित थे।

रसखान के बारे में जो कुछ कहा गया है उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि रसखान लौकिक प्रेम की ओर से अलौकिक प्रेम की ओर मुड़े और अन्त में उसी के हो भी रहे। उनका एक दोहा है—

आनँद अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द, कै, ब्रह्मानन्द बखान ॥११॥

—प्रेम-वाटिका।

अस्तु, हम देखते हैं कि रसखान की रचना में भी यह सूफी रंग रह रह कर गोचर होता रहता है। सूफी शायरी में 'दीदार' और 'दीवाना' भरा रहता है। रसखान के यहाँ भी 'बिलोकना' और 'बिकाना' भरा है, साथ ही दर्शन और बावलापन भी। झाँकना और झँखना भी रसखान में कम नहीं है। सच तो यह है कि रसखान ने ब्रज की लीला को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना इस 'बिलोकने' और 'बिकाने' को। मुसकान का भी जैसा वर्णन रसखान ने किया है वैसा किसी और ने नहीं। 'अहीर रसखान' की मुसकान को तो देखिये। कैसा रंग ला रही है—

अबहीं गई खरिक गाय के दुहाइबे को,
बावरी है आई डारि दोहनी यों पान की।
कोऊ कहै छरी कोऊ मौन परी डरी,
कोऊ कहै मरी गति हरी अँखियान की॥
सास व्रत ठाने नन्द बोलत सयाने,
धाय दौरि दौरि जानै मानै खोरि देवतान की।

साखी सब हँसे मुरझान पहिचान कहूँ,
देखी मुसकान वा अहीर रसखान की ॥५४॥

बीती सो तो बीत गई, आगे की भी दशा यह है कि—

कान दै अँगुरी रहिहौं जब ही मुरली धुनि मंद बजै है।
सोहनीताननि सों 'रसखान' अटा चढ़ि गोधन मै है तो गैहै।
टेरि कहौ सिगरे व्रज लोगन कालिह कोऊ कितनो समुझै है।
माई री वा मुख की मुसकान सम्हारन जैहै न जैहै न जैहै ॥६५॥

मुसकान तो मुसकान ही, थोड़ी हँसी भी फाँसी का काम कर जाती है। देखिये 'बिलोकन' भी यहाँ विराजमान है—

बंक बिलोकन है दुख-मोचन दीरघ लोचन रंग भरे हैं।
घूमत वारुनी पान किये जिमि झूमत आनन रंग ढरे हैं॥
गडन पै झलकै छबि कुडल नागरि नैन बिलोकि अरे हैं।
'रसखान' हरे व्रज बालनि को मन ईषद हाँसी की फाँसी परे हैं ॥३१॥

वारुणी आये और कोई सूफी खुमार की चर्चा न करे यह कैसे हो सकता है। निदान रसखान भी कहते हैं—

आज सखी नँद-नन्दन री तकि ठाढ़ी है कुंजन की परछाहीं।
नैन बिसाल की जोहन को सर बेधि गयो हियरा जिय माहीं॥
घायल घूमि खुमार गिरी 'रसखान' सम्हार रह्यो तन नाहीं।
तापर वा मुसकान की डौंड़ी बजी व्रज में अबला कित जाहीं ॥३३॥

'अबला कित जाहीं' का संकट तो दूर भी हो सकता है किन्तु कहीं जायँ तो किस रूप में जायँ। होता तो यह है—

खंजन नैन फँदे पिंजरा छबि नाहिं रहैं थिर कैसेहूँ माई।
छूट गई कुलकानि सखी 'रसखान' लखी मुसकानि सुहाई॥

चित्र लिखीसी भई सब देह, न बैन कढ़ै मुख दीन्हे दुहाई।
कैसी करौं जित जाउँ तितै सब बोल उठै यह बावरी आई ॥३०॥

तो भी सन्तोष की बात यह है—

आज सखी इक गोप कुमार ने रास रच्यो इक गोप के द्वारे।
सुन्दर बानिक सो 'रसखान' बन्यो वह छोहरा भागि हमारे॥
ये विधना जो हमैं हँसती अब नेक कहूँ उतको पग धारे।
ताहि बदौं फिर आवै घरै बिन ही तन औ मन जोवन वारे॥ ४१ ॥

अनुमान खरा उतरा। परिणाम यह हुआ कि—

जा दिन तें वह नन्द को छोहरो या वन धेनु चराइ गयो है।
मीठिहिताननि गोधन गावत बैन बजाइ रिझाइ गयो है।
वा दिन सों कछु टोना सों कै रसखान हिये में समाइ गयो है।
कोउ न काहू की कानि करै सिगरो ब्रज वीर बिकाइ गयो है ॥५०॥

सारा ब्रज बिका तो बिका पर ब्रज-बाला बिक कर भी नहीं बिकी। उसने तो ब्रज-जीवन से बदला भी कस कर लिया। बात यह हुई कि—

एक समै इक सुन्दरी को ब्रज-जीवन खेलत दीठि पर्‌यो है।
बाल प्रवीन प्रवीनता कै सरसाय के काँध लै चीर धर्‌यो है॥
यों रस ही रस ही रसखान सखी अपनो मन भायो कर्‌यो है।
नन्द के लाड़िले ढाँक दे सीस हहा मेरो गोरस हाथ भरयो है ॥७३॥

ब्रज-जीवन ने भी समझा कि चेष्टा कुछ ठिकाने की हुई है। जैसा समझा किया भी वैसा ही। उधर उसने भी देखा कि बात कुछ अटपटी हो रही है। उसने जो कुछ किया वह था—

दूर ते आय दिखाय अटा चढ़ जाय गह्यो तहँ दूर ते बारो।
चित्त कहूँ चितवै कितहूँ हित औरसो चाहि करै चख चारो॥

रसखान कहै इहि बीच अचानक जाय सिढ़ी चढ़ सास पुकारो।
सूख गई सुकुमार हियो हनि सैनन सों कह्यो कान्ह सिधारो॥ ७४॥

कान्ह सिधार तो गये पर चित्त उनका इधर ही रहा। एक दिन और भी पते की सूझी—

मोहन के मन भाय गयो इक भाव सो ग्वालिनि गोधन गायो।
ताते लग्यो चट चौहन सों हरवाय दै गात सों गात छुवायो॥
रसखान लही यह चातुरता चुपचाप रही जब लौं घर आयो।
नैन नचाय चितै मुसकाय सुओट है जाय अँगूठो दिखायो॥ ७६॥

दिखाने को अँगूठा तो दिखा दिया पर साथ ही ऐसी लगी कि फिर दूर न रह सके। सच है—

नैनन बंक बिसाल के बानन झेलि सकै वह कौन नवेली।
वेधत है हिय तीषन कोरसों मार गिरीं तिय केतिक हेली॥
छोड़े नहीं छिनहूँ रसखानि सु लागी फिरै द्रुम सों जिमि बेली।
रौर परी छबि-की व्रज मण्डल कुण्डल गण्डन कुन्तल केली॥१०॥

उधर से भी कुछ सिखावन मिली। उससे कहा गयाः—

बारहीं गोरस बेंच री आज तूँ माय के मूड़ चढ़ै कित मौंढ़ी।
आवत जात लौं होयगी साँझ भटू जमुना भतरौड़ लौं औंढ़ी॥
एते में भेंटत ही रसखान ह्वै हैं अँखियाँ बिन काज कनौड़ी।
एरी बलाय लौं जायगी बाजि अबै ब्रजराज सनेह की डौंढ़ी॥१३॥

किन्तु इससे होता क्या है? रोकने से कहीं ऐसी चाट रुकती है। मुठभेड़ हो ही गई और उसने भी कुछ मुसकरा कर कहा ही—

छीर जो चाहत चीर गहे अजू लेहु न केतक छीर अँचैहौं।
चाखन के हित माखन माँगत खाहु न माखन केतिक खैहौ॥

जानत हौं जिय की रसखान सुकाहे को एतिक बात बढ़ैहौं।
गोरस के मिस जो रस चाहत सो रस कान्ह जू नेक न पैहौं ॥९३॥

कहने को कह तो दिया पर स्वयं उसकी दशा यह हुई—

प्रेम पगे जू रँगे रँग साँवरे मानैं मनाये न लालची नैना।
धावत हैं उत ही जित मोहन रोके रुकै नहीं घूँघट ऐना॥
कानन लौं कल नाहि परै सखि प्रीति में भीजे सुने मृदु बैना।
रसखान भई मधु की मखियाँ अब नेह को बंधन क्यो हूँ छुटैना॥ १६॥

जब किसी प्रकार नेह का बन्धन छूट ही नहीं सकता तब इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है—

मोर की चन्द्रिका मौर लसैं दिन दूलह है अलि नद को नंदन।
श्रीवृषभानुसुता दुलही लही जोरी बनी विधिना सुख कदन॥
रसखान न आवत मोपै कह्यो कछु दोऊ फँदे छबि प्रेम के फंदन।
जाहि विलोके सभी सुख पावत ये ब्रजजीवन दुःख निकंदन॥ १४॥

'लली' 'लला' का विवाह हो गया तो—

वह सोई हुती परजंक लली लला लीनो सुआय भुजा भरिकै।
अकुलाइ के चौंकि उठी सु डरी निकरी चहैं अंकनि तें फरिकै॥
झटका-झटकी में फट्यो पटुका दरकी अँगिया मुकता झरिकै।
मुख बोल कढ़ै रिस सो रसखान हटो जु लला निविया धरिकै॥ ८५॥

इस प्रसंग में भूलना न होगा कि 'हटो जू लला' का अर्थ खरा हटना ही नहीं होता। रसखान का इस विषय में कहना भी हैं—

प्रेम पगी बतियाँ दुहुँघां की दुहूँ को लगी अति ही चितचाहीं।
मोहनी मंत्र बसी कर तंत्र हहा पिय की तिय की नहि नाहीं॥ ६८॥

'बसीकर मन्त्र' के लिये इतना और जान लें—

अँखियाँ अँखियाँ सों सकाय मिलाय हिलाय रिझाय हियो भरिबो ।
बतियाँ चितचोरन चेटक सी रस चारू चरित्रनि ऊँचरिबो ॥
रसखान के प्रान सुधा भरिबो अधरान पै त्यों अधरा धरिबो ।
इतने सब मैन के मोहनी जन्त्र पै मन्त्र बसी कर सों करिबो ॥ ८२ ॥

संयोग के उपरान्त वियोग होता ही है । वियोग में सबसे बड़ी विपदा यह होती है कि सुख की स्मृति ही दुःख की जननी होती है । देखिये किस व्यथा से बीती बात जी से बाहर निकल रही है—

काह कहूँ रतियाँ की कथा बतियाँ कहि आवत है न कछू री ।
आई गोपाल लियो भरि अङ्क कियो मन भायो पियो रसकूँ री ॥
ताही दिना सों गड़ीं अँखियाँ रसखान मेरे अँग अङ्ग में पूरी ।
पै न दिखाई परै अब बावरौं दैके वियोग बिथा की मजूरी ॥ ७२ ॥

वियोग ही नहीं वियोग के साथ ही सौत का विरोग भी बड़ा भारी है । मन-भावन आने को तो नित्य कहता है पर आता कभी नहीं है । फेरी की बात भी व्यर्थ रही । जैसे कभी उसका दिन आता ही नहीं । तभी तो किस विषाद से कहती है—

काह कहूँ सजनी संग की रजनी नित बीतैं मुकुन्द हो हेरीं ।
आवन रोज कहैं मनभावन आवन की न कभौं करी फेरी ॥
सौतिन भाग बढ्यो व्रज में जिन लूटत हैं निस रङ्ग घनेरी ।
सो रसखान लिखी विधना मन मारिकै आपु बनी हौं अहेरी ॥ ७९ ॥

बाँके बिहारी की छवि ऐसी नहीं कि वह कहीं बँध कर रहे । उसको तो देखते ही पातक भाग जाता है, फिर भला कोई अपने पुण्य-प्रसाद को आँख भरकर क्यों नहीं देखे । देखिये न कैसा मोहन रूप है—

'अंग ही अंग जराव जरी अरू सीस बनी पगिया जरतारी ।
मोतिनि माल हिये लटकै लटुआ लटकै सब घूँघरवारी ॥

पूरन पुन्य हुँ तैं रसखानि ये मोहनी मूरति आनि निहारी।
चारों दिसा के महा अघ हाँके जो झाँके झरोखे में बाँके बिहारी ॥ २० ॥

यदि यह रूप ठीक ठीक आँख में न बसा हो तो दूसरे रूप को लीजिये और आँख खोलकर इसका भी पान कीजिये। क्योंकि—

सोहत हैं चंदवा सिर मोर के तैसिये सुंदर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल विराजत तैसी हिये वनमाल लसी है॥
रसखान बिलोकत बौरी भई दृग मूँदि के ग्वालि पुकारि हँसी है।
खोलरी घूँघट खोलौं कहाँ वह मूरति नैनन माँझ बसी है॥ २२ ॥

घूँघट खुले या न खुले पर बात तो खुल कर ही रहेगी। सुनिये न, जवाब भी कैसा हो रहा है—

एरी आज कालिह सब लोक लाज त्याग दोऊ,
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसायबो।
यह रसखान दिन द्वै में बात फैलि जैहे,
कहाँ लौ सयानी चन्द हाथनि छिपायबो।
आज हौं निहार्‌यो बीर निपट कलिंदी तीर,
दोउन को दोउन सों मुरि मुसकायबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूलि गईं गैयाँ इन्हें गागरि उठायबो॥ ८९ ॥

ध्यान देने की बात है कि रसखान का मन जितना किशोरलीला में रमा है उतना पौगंड कुमार और बाल-लीला में नहीं। लीला के रूप में रसखान ने जो कुछ कहा है उसमें उतना रस नहीं जितना उनकी अन्य रचना में। और यदि किसी लीला में उनका मन रमा भी है तो दान लीला में ही। इस लीला में कृष्ण की पूँजी की बढ़िया गति बनी है। गोपी कहती है—

दानी भये नये माँगत दान सुनै जो पै कंस तो बाँधिके जैहौं।
रोकत हो मग में रसखान पसारत हाथ कछू नहिं पैहौं॥
टूटै छरा बछरा अरु गोधन जो धन है सु सबै धर देहौं।
जैहै अभूषण काहू सखी को तो मोल छला के लला न बिकैहौ॥ ९४॥

रास और चीर-हरण को भी यों ही कुछ चलता सा कर दिखाया है। हाँ, कालिय-दमन-लीला में माता के हृदय को भली भाँति खोल कर दिखा दिया है—

आपनो सो ढोटा हम सब हीं को जानत हैं,
दोऊ प्रानी सब ही के काज नित धावहीं।
ते तौ रसखान अब दूरि तें तमासो देखें,
तरनि-तनूजा के निकट नहिं आवहीं॥
आन दिन बात अनहितुन सों कहौ कहा,
हितू जे जे आये तेऊ लोचन दुरावहीं।
कहा कहौ आली खाली देत सब ठाली हाथ,
मेरे बनमाली को न काली ते छुड़ावहीं॥ १२३॥

रसखान ने न जाने क्या समझ कर कछनी काछे हुए कृष्ण को भी खूब सराहा है। सम्भव है पहले की ठसक काम कर गई हो। कहते हैं—

कंस के कोप की फैलि गई जबहीं ब्रजमंडल बीच पुकार है।
आय गयो तबहीं कछनी कसि कैं नटनागर नन्द कुमार है॥
द्वै रदको रद खैंचि लियो रसखानि तबै मन आयो विचारहै।
लागी कुठौर लई ऊख खेंचि कलंक तमालते कीरति डार है॥ १०९॥

रसखान ने बाँसुरी के चमत्कार को ही डट कर दिखाया है परन्तु कहीं उसको नाद-ब्रह्म के प्रतीक के रूप में अंकित करने का प्रयत्न नहीं किया है। उनकी दृष्टि में तो—

दूध दुह्यो सीरो पर्यो तातो न जमायो वीर,
जामन दयो सो धर्यो धर्योई खट्यायगो।

आन हाथ आन पाँय सब ही के तब हीं ते,
जब हीं तैं रसखान तानन सुनायगो ॥
ज्यों ही नर त्यो ही नारी तैसेई तरुनि वारी,
कहिए कहारी सब ब्रज बिललायगो ॥
जानिये न आली यह छोहरा जसोमति को,
बाँसुरी बजायगो कै बिस बगरायगो ॥ ६६ ॥

कूबरी पर भी रसखान की पैनी दृष्टि पड़ी है। उनकी गोपिका कहती है—

होती जु कुबरी ह्याँ पै सखि भरि लातन मूका बकोटती केती।
लेती निकाल हिये की सबै नक छेदिकै कौड़ी पिराइ कै देती ॥
ऐती नचाइकै नाच वा रांड को लाल रिझावन को फल देती।
सेती सदा रसखान लियो कुबरी के करेजनि सूल से भेती ॥

किन्तु यह तो मन की बात रही। मन में जो बीत रही है सो तो कुछ और है और इसका उपाय भी है यह—

काहू को माई कहा कहिये सहिये सु जोई रसखान सहावैं।
नेम कहा जब प्रेम कियो अब नाचिये सोई जो नाच नचावैं ॥
चाहति हैं हम और कहा सखि क्योंहूँ कहूँ पिय देख न पावैं।
चेरिहि सों जु गुपाल रच्यो तौ चलोरी सबै मिलि चेरी कहावैं ॥९७॥

कूबरी के साथ साथ ऊधो पर भी रसखान की दृष्टि पड़ी है। गोपियाँ ऊधो के पीछे नहीं पड़तीं। उनके योग पर झंखती और यह खड़ी प्रार्थना करती हैं—

सारकी सारी सो भारी लगै धरिहैं कहाँ सीस बघंबर दैया।
दासी जु सीख दई सो दई पै लई गहि क्यों रसखान कन्हैया ॥
योग गयो कुबजा की कलांन में री कब ऐहै जसोमति छैया।
हाहा न ऊधो कुदाय हमें अब ही कह दै ब्रज बाजै बधैया ॥१०४॥

हिन्दी कविता में काग का भी बड़ा माहात्म्य है। प्रायः उससे शकुन का काम लिया गया है। रसखान ने उसके भाग्य को भी सराहा है—

घूरि भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैंजनियाँ कटि पीरी कछोटी॥
वा छवि को रसखानि विलोकत वारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग कहा कहिए हरि हाथ सो लैगयो माखन रोटी॥ ९॥

प्रकृति की ओर रसखान की दृष्टि नहीं गई है। व्रज की भूमि का वर्णन भी उन्होंने कुछ विशेष रूप में नहीं किया है। हाँ, उन्होंने होली का जो वर्णन किया है उसमें भी प्रकृति का दर्शन नहीं किया है। उनके सामने तो बस फागुन का यह रूप है—

आई खेलि होरी व्रजगोरी वा किसोरी संग,
अङ्ग अङ्ग रंगनि अनंग सरसाइगो।
कुंकुम की मार वापै रंगनि उछार उड़ै,
बुक्का औ गुलाल लाल लाल बरसाइगो॥
छोड़ै पिचकारिनि धमारिनि बिगोइ छोड़ै,
तोड़ै हियहार धार रंग बरसाइगो।
रसिक सलोनो रिझवार रसखान आजु,
फागुन में औगुन अनेक दरसाइगो॥ ९१॥

अथवा—

लीने अबीर भरे पिचका रसखान खड्यो बहु भाव भर्यौ जू।
मार से गोपकुमार कुमार वे देखत ध्यान टर्यो न टर्यौ जू॥
पूरब पुन्यन दाँव पर्यो अब राज करो उठि काज करौ जू।
अंक भरौ निरसंक उन्हें यहि पाख पतिव्रत ताख धरौ जू॥ ७०॥

यह और कुछ नहीं, उनकी फारसी रुचि का प्रसाद है। फारसी का भाव पक्ष ही प्रबल है विभाव पक्ष नहीं।

रसखान में रस ही नहीं कला भी है। उस कला को दिखाने के पहले बताना यह है कि रसखान के यहाँ मान को बहुत थोड़ा स्थान है। रसखान को किसी का मान नहीं भाता। उसी को तोड़कर तो ब्रज में आ पड़े थे! इसी से उनका कहना है—

मान की औधी है आधी घरी अरु जो रसखान डरै डरके डर।
तोड़िये नेह न छोड़िये पाँ परों ऐसे कटाच्छ महा हियरा हर॥
लाल गुपाल को हाल विलोकि री नेंक छुवै किन दै करसों कर।
ना कहिबे पर वारति प्रान कहा लख वारि है हाँ कहिबे पर॥ ११८॥

कहा नहीं जा सकता कि 'हाँ' का पुरस्कार क्या मिलेगा, पर जो मिलेगा वह होगा अपूर्व ही।

अलंकारों के विषय में विशेष रूप से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रही। जो छन्द प्रसंगवश जहाँ तहाँ उद्धृत किये गये हैं उनमें आवश्यकता से अधिक अलकार आ गये हैं। तो भी दो एक और उदाहरण का आ जाना विषय के अनुरूप ही होगा। रसखान को यमक बहुत प्यारा है—

मोर पखा सिर ऊपरि राखि हौं गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितम्बर लै लकुटी बन गावत गोधन संग फिरौंगी॥
भावतो मोंहि वही रसखान सों तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरली-धर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥ ५८॥

यमक का एक दूसरा भी रूप होता है जिसे सिंहावलोकन कहते हैं। रसखान ने इस पर भी एक छन्द लिखा है—

बजी है बजी रसखान बजी सुनि कै अब गोप कुमारि न जी है।
न जी है कदाचित् कामिनी कोऊ जु कान परी वह तान अजी है॥
अजी है बचाव को कौन उपाव तियान पै मैन ने सैन सजी है।
सजी है तो मेरो कहा बस है जब बैरिनि बाँसुरी फेरि बजी है॥६४॥

रूपकातिशयोक्ति की छटा देखनी हो तो रसखान का यह छन्द लेना चाहिये। इसमें शब्दालंकार की भी बहार है—

सोई हुती पिय की छतियाँ लगि बाल प्रवीनि महा मुद मानै ।
केस खुले छहरैं बहरैं कहरैं छबि देखत मैन अमानै ॥
वा रस में रसखान पगी रति रैन जगी अँखियाँ अनमानै ।
चन्द पै बिम्ब औ बिम्ब पै कैरव कैरव पै मुकतान प्रमानै ॥ ८६ ॥

उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

मोहन जू के वियोग की ताप मलीन महा द्युति देह तिया की ।
पंकज सो मुख गो मुरझाय लगैं लपटैं बिरहागि हिया की ॥
ऐसे में आवत कान्ह सुने तुलसी सु तनी तरकीं अँगिया की ।
यों जगि जोति उठी तनकी उसकाय दई मनौं बाती दिया की ॥ ७१ ॥

इस उत्प्रेक्षा की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। किस प्रकार प्रियतम के आने की सूचना से अन्धकार में प्रकाश फैल जाता है इसका यह दिव्य उदाहरण है ।

रसखान में शब्दों की झंकार सुननी हो तो उनका यह छन्द देखें—

विहरैं पिय प्यारी सनेह सजे छहरै चुनरी को झवा झहरैं ।
सिहरैं नवजोवन रंग अनङ्ग सुभङ्ग अपांगनि की गहरैं ॥
बहरैं रसखान नदी रस की घहरैं बनिता कुलहू भहरैं ।
कहरैं विरहीजन आतप सों लहरैं लली लाल लिए पहरैं ॥ ८४ ॥

रसखान ने भाव की दृढ़ता दिखाने तथा उसको दूर तक पहुँचाने के लिए शब्दों को दुहराया क्या तेहराया तक है जिससे उनकी रचना में बल आ गया है प्रमाण के लिए यह सवैया लीजिये—

समझी न कछू अजहूँ हरि सो ब्रज नैन नचाय नचाय हँसै ।
नित सास की सीरी उसासन सों दिन ही दिन माय की कान्ति नसै ॥
चहुँ ओर बबा की सौं सोर सुनै मन मेरेउ आवत रीस कसै ।
पै कहा करौं वा रसखान विलोकि हियो हुलसै हुलसै हुलसै ॥ ४४ ॥

समझ में नहीं आता कि रसखान को क्या पड़ी थी कि वे भी ऐसी रचना के चक्कर में पड़ गये कहीं 'वस्ल' की भावना ने तो जोर नहीं मारा और उनसे भी अन्त में लिखा ही लिया—

बागन काहे को जाओ पिया घर बैठे ही बाग लगाय दिखाऊँ।
एड़ी अनार सी मोर रही बहियाँ दोउ चंपे सी डार नवाऊँ॥
छातिन में रस के निबुआ अरु घूँघट खोलि कै दाख चखाऊँ।
टाँगन के रसके चसके रति फूलनि की रसखान लुटाऊँ॥ ८०॥

रसखान की भाषा के बारे में मौन रहना ही अच्छा है। बोलती हुई भाषा के बारे में अपनी ओर से कुछ बोलना ठीक नहीं होता। रसखान की भाषा चलती हुई, सरस, सरल और सुबोध व्रज की भाषा है और है सर्वथा स्वच्छ, निर्मल और निर्दोष। शब्द छलकते हुए अपने रूप में चले जाते हैं। उनको बनने-बिगड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वाक्य में जहाँ के तहाँ अपने आप बड़े ढब से बैठते रहते हैं। कहीं कहीं फारसी और अरबी के शब्द भी आ जाते हैं। हाँ, आ जाते हैं बुलाये अथवा लाये नहीं जाते। भाषा की दृष्टि से रसखान की भाषा प्रमाण मानी जाती है, यद्यपि उसका सम्पादन अभी तक ठीक ठीक नहीं हो पाया है।

मुहावरों के प्रयोग में भी रसखान बड़े ही निपुण हैं। कहते हैं—

'बैस चढ़े घर ही रह बैठ अटान चढ़े बदनाम चढ़ैगो'

एक चढ़े से कितना और कैसा काम लिया गया है इसे कोई भी सहृदय देख सकता है। एक सवैया लीजिये और देखिये कि इसमें मुहाविरे के कारण कितना भाव भर गया है—

हेरति बारहिं बार उतै यह बावरी बाल कहाँ धौं करैगी।
जो कहुँ देखि परयो रसखान तौ क्योंहूँ न वीर री धीर धरैगी॥
मानि है काहू की कानि नहीं जब रूप ठगी हरि रंग ढरैगी।
यातें कहौं सिख मानि भटू, वह हेरनि तेरेइ पैंड़ परैगी॥३९॥

उक्ति के रूप में 'चंद हाथनि छिपाइबो' का संकेत कर देना ही पर्याप्त है।

तात्पर्य यह कि रसखान की भाषा भाव के सर्वथा अनुकूल और समर्थ है। उन्हें कभी अर्थ की चिन्ता नहीं होती। रसखान जी की बात जी में पैठाना जानते हैं और जानते हैं जी में पैठना भी। रसखान के शब्दों में बल है और अक्षरों में गति।

हाँ, तो रसखान की उदार दृष्टि में पुराण को भी स्थान है और कुरान को भी। परन्तु उनका लक्ष्य है सदा प्रेम ही। रसखान कहते हैं—

'शास्त्रन पढ़ि पंडित भये, कै मौलवी कुरान।
जु पै प्रेम जान्यों नहीं, कहा कियो रसखान ॥१३॥
—प्रेम-वाटिका।

और ब्रह्म का साक्षात्कार रसखान को कहाँ हुआ था, हुआ था, इसे भी जान लें। स्वयं लिखते हैं—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गायन वेद रिचा पढ़ी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कबहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ॥
ढूँढ़त ढूँढ़त ढूढ़ि फिरयो रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरयो वह कुंज कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका पायन ॥१०८॥

इस ब्रह्म को और भी रँगे रूप में देखना हो तो रसखान से देखना सीखें और पालन तथा संहार के द्वेष को मिटा दें। रसखान का सच्चा उल्लास है—

इक ओर किरीट लसै दुसरी दिसि नागन के गन गाजत री।
मुरली मधुरी धुनि ओठन पै तुरही कलनाद सों बाजत री ॥
रसखान पितम्बर एक कँधा पर एक बघंबर छाजत री।
अरी देखहु संगम लै बुड़की निकसे वर वेष विराजत री ॥११६॥

स्मरण रहे, रसखान की दृष्टि में हर और हरि में कोई भेद नहीं। तभी तो कहते हैं—

यह देखि धतूरे के पात चबात गुगात में धूरि लगावत हैं।

चहुँ ओर जटा अटकी लटकैं सुभ सीस फनी फहरावत हैं ॥
रसखान जोई चितवै चित दै तिनकै दुख द्वन्द्व भजावत हैं ।
गज खाल कपाल की माल धरें हरि गाल बजावत आवत हैं ॥११७॥

शिव जो इस प्रकार विष खाते फिरते और मग्न रहा करते हैं उसका कारण क्या है ? यदि आप न जानते हों तो रसखान से पूछ देखें—

बैद की औषधि खाइ कछू न करौं वह संजम री सुनि मोसैं ।
तेरोइ पानी पियैं रसखान सजीवन जानि लहै सुख तोसैं ॥
एरी सुधामयी भागीरथी सब पथ्य कुपथ्य बनैं तोहिं पोसैं ।
आक धतूरो चबात फिरैं विष खात फिरैं सिव तेरे भरोसैं ॥१२०॥

यह सब तो हुआ किन्तु यह रहस्य न खुला कि ब्रह्म ने रूप धर के यह सब कुछ किया क्यों ? अरे ! इसी को खोलने के हेतु तो रसखान को यह रचना पड़ा—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं ।
जाहि अनादि अनन्त अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥
नारद लै सुक व्यास रटै पचिहारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछि पै नाच नचावैं ॥१०६॥

अस्तु रसखान की खुली घोषणा और दृढ़ विश्वास है कि कृष्ण के होते किसी का डर नहीं ।

द्रौपदी औ गनिका गज गीध अजामिल सों कियो सो न निहारो ।
गौतम गेहिनी कैसी तरी प्रहलाद को कैसो हरयो दुख भारो ।
काहे को सोच करै रसखान कहा करि है रबिनंद बिचारो ।
कौन की संक परी है जु माखन चाखन हारो है राखन हारो ॥१२१॥

निदान रसखान का निनाद है—

कंचन के मन्दिरनि दीठि ठहराति नाहिं,

सदा दीपमाला लाल रतन उजारे सों।
और प्रभुताई सब कहाँ लौ बखानौं,
प्रतिहारिनि की भीर भूप टरत न द्वारे सों॥
गंगा जू में न्हाय मुक्ताहल हू लुटाय,
वेद बीस बार गाय ध्यान कीजत सकारे सों॥
ऐसे ही भये तौ कहा दीख रसखान जु पै,
चित्त दै न कीन्हीं प्रीति पीत पटवारे सों॥१३४॥

बस, 'पीतपटवारे' से प्रीति करो, यही रसखान का उपदेश है और है यही उनकी कविता का मधुर रस भी। कहिये, क्या इच्छा है? है न रसखान सचमुच रसखान ही।